इतिहास, एक प्रवंचना

पूर्वाग्रह परीक्षण

'इतिहास लेखन का कार्य इतिहास की रचना करने-जैसा ही महत्त्वपूर्ण है। यदि इतिहास लेखक इतिहास की रचना करने वाले के प्रति सत्यनिष्ठ नहीं होता तो सत्य का सही निर्वाह नहीं हो पाता और इसका दण्ड मानव समाज को भोगना पड़ता है।'

कमाल अतातुर्क

'सर्वशक्तिमान् ईश्वर से भी बड़ी शक्ति इतिहासकार के हाथों में होती है, क्योंकि वह अतीत को बदल सकता है।'

डीन इंज

हिन्दी समिति ग्रन्थमाला—१३६

इतिहास एक प्रवंचना

पूर्वाग्रह परीक्षण

लेखक
ई० एच० डान्स
अनुवादक
श्री बलभद्र प्रसाद मिश्र

हिन्दी समिति
सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश
लखनऊ

प्रकाशकीय

इतिहासकार का दृष्टिकोण व्यापक और उदार होना चाहिए अन्यथा वह अपने कर्तव्य से गिर जाता है। डान्स महोदय ने इस पुस्तक में पश्चिमी इतिहासकारों की कृतियों से उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि उनके द्वारा बहुधा संकीर्ण दृष्टिकोण अपनाये जाने के कारण ही पूर्व की सभ्यताओं का समुचित मूल्यांकन युरोप अथवा अमरीका में नही हो पाया। एकागी विवरण और पक्षपातपूर्ण टिप्पणियाँ पाठकों को भ्रम में डालती है। तिथियों, तथ्यो और घटनाओं के स्थानादि के सम्बन्ध में सम्यक् अनुसन्धान करके विवेकपूर्ण विवरण प्रस्तुत करना सच्चे इतिहासकार का लक्षण है। आज इतिहास का क्षेत्र सार्वभौम हो गया है। एक दिशा के मानव दूसरी दिशा के मानवों के सम्पर्क मे आये, पारस्परिक आचार-विचार को समझे, तभी अन्तर्राष्ट्रीय संघ-जैसी सस्थाएँ अभीष्ट लाभ कर सकती है। इस प्रकार के उद्देश्य की पूर्ति में इतिहास से यथेष्ट सहायता मिल सकती है। अतएव पश्चिमी इतिहासकारों की भ्रान्त धारणाओं की ओर इंगित करते हुए इस पुस्तक के लेखक ने उनका यथोचित उद्बोधन एव पथ-प्रदर्शन किया है।

हिन्दी माध्यम से अध्ययन करने वाले पाठकों और विद्यार्थियो को डान्स के ग्रन्थ का यह अनुवाद ऐतिहासिक यथार्थता की जाँच करने मे कसौटी का काम देगा।

शशिकान्त भटनागर
सचिव,
हिन्दी समिति

विषय-सूची

१

इतिहास या सत्य ?

इतिहास के सम्बन्ध मे सामान्य धारणा यह है कि अतीत की बात होने के नाते वह अपरिवर्तनीय है । इस धारणा का आधार यही है कि जो घटना घट चुकी है उसमें कोई फेर-बदल सम्भव ही कैसे हो सकता है । परन्तु वास्तव मे इतिहास स्वत: अतीत न होकर अतीत की घटनाओ का लेखा या विवरण है । यदि बीती घटनाओ का कोई लेखा उपलब्ध न हो तो इतिहास का अस्तित्व ही नही रह जाता । और जब हमने लेखा की बात स्वीकार कर ली तो उसका कोई लिखने वाला भी अवश्य होगा, जो अपने विचारों और पूर्वाग्रह का रंग अपने विवरणो में भरे बिना रह ही नही सकता । हम तटस्थ और विषयनिष्ठ इतिहास की चर्चा बहुधा सुनते हैं । जर्मनी मे इसकी दुहाई बहुत दी जाती है, जहाँ इसका पर्याय टयूटनिक भाषा से निकला शब्द 'ओब्जेटिव' बहुधा निश्चिन्त हो जाने की भ्रान्ति पैदा करता है । वस्तुत. तटस्थ और विषयनिष्ठ इतिहास सम्भव ही नही है । इतिहासकार (चाहे वे सत्यनिष्ठ हो या असत्यनिष्ठ) उतने ही तटस्थ माने जा सकते है जितने कि अदालत मे गवाही देने वाले (सच्चे या झूठे) गवाह । किसी भी घटना का हूबहू एक-जैसा वर्णन दो भिन्न गवाहो के मुंह से सुनने को कभी भी नही मिलता । इतना ही नही, बल्कि कोई भी गवाह जो कुछ वास्तव मे कहना चाहता है ठीक वैसा ही वर्णन वह कभी कर ही नही पाता 'वर्जिनिबस प्यूरेस्क' में स्टीवेंसन की यह सूक्ति इतिहासकारो पर भी पूरी तरह लागू होती है कि 'साहित्य लिखने मे कोई कठिनाई नही है, पाठको को प्रभावित करना भी कठिन नही है : वास्तविक कठिनाई है लेखक के भावो की सच्ची अभिव्यक्ति और पाठको को वांछित रूप मे प्रभावित करने की ।'

इसीलिए ऐतिहासिक सत्य के प्रति निष्ठावान् लोग सम्भवत: इससे भी अधिक इतिहास के शिक्षक और उनमें भी सबसे अधिक जर्मनी के इतिहास शिक्षक

बहुधा इतिहास में तारीखो को सबसे अधिक महत्त्व देते है। इसके पक्ष में तर्क यह दिया जाता है कि तारीखें तो गलत हो ही नही सकती। परन्तु यह बात भी सही नही ठहरती। उदाहरणार्थ इस बहुप्रचलित तथ्य को ले लीजिए कि 'हेस्टिंग्स की लडाई १०६६ ई० में हुई।' यह कथन देखने मे निर्विवाद और सही ही लगता है। किन्तु इसमे भी तथ्य की दो भूलें और धार्मिक दुराग्रह की एक भूल मौजूद है। पहली भूल तो यह कि लड़ाई हेस्टिंग्स स्थान पर नही, बल्कि उससे ६–७ मील हटकर हुई थी। इसीलिए फ्रीमैन और उनके अनुयायियो ने लगभग दो पीढियो तक इस बात का असफल आन्दोलन किया कि इस लड़ाई का नाम हेस्टिंग्स से बदल कर सेनलैक हो जाय। फिर, यह लडाई १०६६ ई० मे न होकर वास्तव मे १०६९ और १०७४ के बीच किसी भी समय हुई होगी। कारण, हमारे पचाग की यह धारणा कि ईसा का जन्म आगस्टस के शासन के इकतीसवे वर्ष (या इसे सत्ताई-सवाँ वर्ष माना जाय ?) मे हुआ सही नही है। सेट लूक के कथनानुसार ईसा का जन्म इससे कुछ पहले हुआ 'जब सीरीनियस सीरिया का गवर्नर था।'

समस्त पश्चिमीय यूरोप में तारीख और सन् की गणना करने में तीन से लेकर आठ वर्ष तक की यह भूल सदैव मौजूद रहती है। अब धार्मिक दुराग्रह की बात सोचिए तो प्रश्न यह उठता है कि सम्पूर्ण संसार मे ईसाई संवत् का ही प्रचलन क्यो मान्य हो ? क्या इसलिए कि सारी दुनिया पर यूरोपीय सभ्यता का सामाजिक और आर्थिक प्रभाव व्याप्त है ? यह बात इसलिए और भी बेतुकी लगती है कि ईसाई सवत् में वही तीन से लेकर आठ वर्ष तक की गलती ठहरती है। यही क्या कम अन्धेर की बात है कि सम्पूर्ण ससार, जो प्रधानतया गैर-ईसाई धर्मावलम्बी है, ईसाई संवत् गणना मानने को विवश हो और वह भी ऐसी सवत् गणना पद्धति जिसमें स्वत: आधारभूत गलती हो।

परन्तु, इससे श्रेष्ठ कोई और संवत् गणना पद्धति हमारे सामने मौजूद भी तो नही है। अपने ओलिम्पिक खेलो के समय से प्रारम्भ होने वाली ग्रीक गणना पद्धति और रोम नगर की स्थापना से गिनी जाने वाली रोमन कालसारिणी के मूल आधार तो उतने भी विश्वसनीय नही ठहरते जितना कि ईसाई संवत्। जो अन्य दर्जनो गणना पद्धतियाँ सृष्टि के रचनाकाल से प्रारम्भ होती हैं उनमें ६९८४ ई० पू० से लेकर ३४८३ ई० पू० तक की भिन्नता सृष्टि के प्रारम्भ के सम्बन्ध में

मिलती है। और यह भी ऐसे जमाने में जब कि सृष्टि प्रारम्भ का सही समय निर्धारित हो चुका है। मुसलमान लोग अपने संवत् की गणना ६२२ ई० में मोहम्मद की हिजरत से करते हैं। इसमें चांद्र मास के आधार पर वर्ष-गणना की असुविधा सामने आती है जो हर प्रकार के प्रयत्नों के बाद भी दूर नही हो पायी है। मुसोलिनी या फ्रेंच राज्यक्रान्ति से काल-गणना के नये प्रयत्न भी व्यर्थ ही सिद्ध हुए है क्योंकि इनका प्रारम्भकाल क्षणभगुर सिद्ध हुआ है। अब सुदूरपूर्व के लोगों की ओर ध्यान दीजिए तो दिखाई देता है कि चीन ने अपने साम्राज्य के लगभग दो हजार वर्षों की संवत् गणना (मध्ययुगीन यूरोप के गाथाकारों की भाँति) अपने शासकों के सिंहासनारूढ़ होने के समय से की है। भारत मे लगभग एक दर्जन विभिन्न संवत् गणना पद्धतियाँ प्रचलित रही है जिनमें से सर्वश्रेष्ठ भी संतोष-जनक नही कही जा सकती। फिर भी यह सभी गणनाक्रम, और कितने ही अन्य, समय-समय पर इतिहास मे प्रयुक्त हुए हैं और यूरोपियन इतिहास लेखक इनके आधार पर ईसाई गणनाक्रम में, जो स्वत. वैसा ही गलत है, समय निर्धारित करते हैं।

अन्य गणना-पद्धतियो की तुलना मे ईसाई सवत् की गलती फिर भी नगण्य ठहरती है। उदाहरणार्थ प्राचीन मिस्र सम्बन्धी समय निरूपण मिस्र के बाहर की कुछ निश्चित समय पर हुई घटनाओ तथा राशि-नक्षत्र आवृत्तियो के जटिल तारतम्य के आधार पर किया गया है। परन्तु मिस्र वालों की यह धारणा तो ठीक नही ही है कि वर्ष मे ३६५ दिन होते हैं। वास्तव मे एक वर्ष मे ३६५$\frac{1}{4}$ दिन होते हैं। अत: मिस्र की संवत् गणना में हर चौथे वर्ष एक दिन की गलती आ जाती है जो (४ × ३६५$\frac{1}{4}$) १४६१ वर्षों बाद सुधार पाती है। फलत. वर्तमान शताब्दी में मिस्र वालों में इस विषय मे दो विरोधी मत चल पड़े है, और इतिहास की घटनाओं के समय निर्धारण के सम्बन्ध में इन दोनो मतों में १४६१ वर्षों का अन्तर पड़ता है। इसी प्रकार का, यद्यपि इससे कुछ कम अन्तर, अन्य कालो के सम्बन्ध में भी दिखाई देता है। जैसे, हाल में किये गये शोधों के आधार पर हम्यूरबी के शासनकाल के सम्बन्ध में इतिहासकारो का मत बदलता रहा है और एक पीढ़ी पहले की तुलना में अब यह शासनकाल लगभग २०० वर्ष पहले हुआ माना जाता है। और एल्फ्रेड महान् के शासनकाल का प्रसिद्ध उदाहरण तो हमारे सामने मौजूद ही है।

उन्नीसवीं शताब्दी में इसकी मृत्यु तिथि सर्वसम्मत रूप से ९०१ मानी जाती थी और इसके सहस्रवर्षीय समारोह की बड़ी तैयारियाँ की जा रही थी। परन्तु उत्सव मनाये जाने के पूर्व ही पता चला कि यह तारीख सही नही है और वास्तव में उसकी मृत्यु ८९९ या ९०० में हुई थी। अतः इस समारोह का आयोजन समाप्त कर दिया गया और इतिहास के ग्रन्थो में आवश्यक संशोधन किया गया। फिर भी सतर्क इतिहासकार ८९९ और ९०० के सम्बन्ध में किन्तु-परन्तु की सावधानी दिखाते ही रहते हैं। अब शेक्सपीयर को लीजिए। जो लोग २३ अप्रैल को खूब सज-धज कर अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करने स्टैफर्ड गये उनमे से कितनो के ध्यान में यह बात आयी कि शेक्सपीयर की सही जन्मतिथि किसी को भी नही मालूम है। यह मामला पूरी तरह से ईसाई सवत् गणना की प्राचीन पद्धति तथा नयी पद्धति के अन्तर के झमेले में उलझा हुआ है। हर कोई जानता है कि १५८२ मे पोप ग्रेगरी १३वे द्वारा सुधार किये जाने के पहले ईसाई सवत् एक सप्ताह हटा हुआ था और जब १७५१ में ब्रिटेन मे इसका चलन स्वीकृत हुआ तो यह ११ दिन हटा हुआ था। आज भी इसके कारण पूर्वी और पश्चिमी यूरोप के बीच आदान-प्रदान में बाधा पड़ती है और असावधान विद्यार्थी सन् १६४८ की छापवाली 'ईकान बैंसिलीक' जैसी असम्बद्धता की उलझन मे परेशान होते हैं जब कि उसमे १६४९ मे मौत के घाट उतारे गये चार्ल्स प्रथम के अन्तिम शब्दो का भी उल्लेख मौजूद है।

तारीखो के स्फुट उदाहरण देने के सम्बन्ध मे लोगो की रुचि-अरुचि का प्रभाव तो पड़ता ही है, यह व्याधि तिथियो की तालिका के बारे में और भी बढ़ जाती है। इतिहास की पुस्तको को पूर्वाग्रह से बचाये रखने का एक सरल उपाय लोग कभी-कभी यह बता बैठते हैं कि इन पुस्तको को केवल तिथि-तालिकाओ का रूप दे दिया जाय। इस तर्क का सार यही निकलता है कि कालानुक्रमिक तालिकाओ में केवल सच्चे तथ्यो का ही समावेश हो पायेगा और इस प्रकार पूर्वाग्रह की गन्ध उनसे दूर रखी जा सकेगी। परन्तु यह धारणा नितान्त बेतुकी है। झूठ बोलने का एक अत्यन्त सरल उपाय यह है कि जितना कुछ कहा जाय उतना तो नितान्त सत्य हो किन्तु कोई मार्के की बात अनकही ही छोड दी जाय। घटनाओ की तिथि-तालिका चाहे कितने ही विस्तार से क्यो न बनायी जाय और उसमें केवल एकदम सच्चे तथ्य ही दिये गये हों तथा सत्य के अतिरिक्त और कुछ भी समाविष्ट न

किया गया हो, परन्तु कभी भी सम्पूर्ण सत्य का निरूपण करनेवाली न ठहरेगी। जो तथ्य इस तालिका में सम्मिलित करने से छोड़ दिया गया होगा वही तालिका के पक्षपातपूर्ण बनाने के लिए पर्याप्त है। उदाहरण के लिए सोलहवी शताब्दी के पहले २५ वर्षों सम्बन्धी दो घटना-तालिकाएँ नीचे अंकित हैं। ये दोनों दो भिन्न प्रारम्भिक स्कूली पाठ्य-पुस्तकों से ली गयी है—पहली उन्नीसवीं शताब्दी की अंग्रेजी पाठ्य पुस्तक से और दूसरी पश्चिमी जर्मनी की १९५० के लगभग प्रचलित पाठ्य पुस्तक से :

(१)

१५१०	डडले और इमर्सन को फाँसी।
१५१२	फ्रांस से युद्ध; ब्रेस्ट के निकट फ्रांसीसी जहाजी बेड़ा नष्ट कर दिया गया।
१५१३	स्पर्स की लड़ाई, फ्रेंच पराजित, स्काटलैंड के जेम्स चतुर्थ द्वारा इग्लैंड पर आक्रमण; फ्लोडेन में पराजित किया गया और मार डाला गया।
१५१४	फ्रांस और स्काटलैंड से सन्धि हुई।
१५१५	पोप ने वूल्ज़े को कार्डिनल बनाया और हेनरी अष्टम ने उन्हें चान्सलर बनाया।
१५१८	वूल्जे पैपललीगेट (पोप के प्रतिनिधि) बनाये गये।
१५२०	फील्ड आफ दि क्लाथ आफ गोल्ड।
१५२१	पोप ने हेनरी को 'डिफेंडर आफ दि फेथ' (धर्मरक्षक) की उपाधि दी।

(२)

१५०० (लगभग)	इटली का पुनर्जागरण (रिनेसां) चरम सीमा पर।
१४८३–१५४६	मार्टिन लूथर।
१५१७	विटेनबर्ग में लूथर की थेसेस।
१५१९–२२	समुद्री मार्ग से सर्वप्रथम विश्वभ्रमण (मैगेलन)

१५२० (लगभग) जर्मनी में वैज्ञानिक और दस्तकारी की चरमोन्नति।

१५२४–५ जर्मनी मे किसानों का युद्ध।

इन दोनों तालिकाओं में स्कूली बच्चों के लिए १५०० से १५२५ तक के समय की 'अत्यन्त महत्त्वपूर्ण' घटनाओं का उल्लेख किया गया है। परन्तु ऐसी एक भी घटना नही है जिसका उल्लेख दोनों तालिकाओ में समान रूप से मौजूद हो। कारण यही कि उनका संकलन दो भिन्न दृष्टिकोणो से और इस उद्देश्य से किया गया है कि तालिकाओ को पढ़ने वाले विद्यार्थी उन्ही दृष्टिकोणो को अपनायें। पहली तालिका के पाठकों का ध्यान युद्ध और राजनीति की ओर दिला कर केवल इन्ही दिशाओं मे रुचि रखने को उन्हे प्रेरित किया गया है। फलत: उनकी धारणा यही बनेगी कि अंग्रेज लोग फ्रेंच या स्काच लोगो की अपेक्षा अच्छे योद्धा होते हैं (या थे)। उन्हे इग्लैंड की तो अपेक्षाकृत महत्त्वहीन घटनाओ की भी जानकारी हो जायगी किन्तु उसी काल की विश्वव्यापी प्रभाववाली घटनाओ से वे सर्वथा अपरिचित बने रहेगे। जर्मनी वाली तालिका के पाठक विद्यार्थी को अंग्रेजो के इतिहास की कोई जानकारी नही मिलेगी और न वे किसी देश की भी राजनीतिक या सैनिक गतिविधि का ही परिचय प्राप्त कर सकेंगे। इस तालिका में तो पेविया के युद्ध तक का उल्लेख नही किया गया है जो कि इस काल के जर्मन इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। यह सम्पूर्ण तालिका युद्ध से क्लान्त जर्मन अध्यापकों की पीढ़ी की पलायनवादी नीति से ओतप्रोत है और ऐसी ही भावना अपने विद्यार्थियो में भी पैदा करती है। दोनो ही तालिकाओ में पक्षपात की एक भी बात का उल्लेख यद्यपि नही किया गया है किन्तु दोनो वास्तव में पक्षपात की भावना से परिपूर्ण है।

इतिहास के रूप मे केवल तिथि-तालिका का उल्लेख कितने घातक रूप से पक्षपाती प्रभाव डालने वाला हो सकता है इसका और भी सटीक प्रमाण नीचे अंकित पश्चिमी जर्मनी की तिथि-तालिका की तुलना उसी काल की पूर्वी जर्मनी की तिथि-तालिका से मिलान करने से प्राप्त होता है :

१५०० (लगभग) जर्मनी का पतन,
जर्मनी में वस्तुओ के निर्माण का प्रारम्भ।

१५१०	पीटर हेनलीन ने पहली जेबघड़ी बनायी।
१५१४	'पुअर कोनराड' विद्रोह।
१५१६	पुर्तगाली जहाज कैन्टन पहुँचे।
	मोर की 'युटोपिया'।
१५१७	लूथर की थेसेस।
१५१९–२१	कोर्टे की मेक्सिको विजय।
१५१९–२२	मेगेलन द्वारा समुद्री मार्ग से विश्वभ्रमण।
१५१९–५६	सम्राट् चार्ल्स पचम।
१५२०	स्विटजरलैंड मे 'रिफार्मेशन' का प्रारम्भ। (ज्विंगली और काल्विन)
	कम्यूनिरोज का विद्रोह।
१५२१	वार्म्स में डायट (पार्लमेन्ट) के सामने लूथर की उपस्थिति।
१५२४	किसानों के विद्रोह का प्रारम्भ।
	मुन्तजर के लेख।
	हाल्बीन की मृत्यु।
१५२५	जर्मनी में किसानों का युद्ध।
	फ्रेंकेन हासेन का युद्ध।
	बाबर द्वारा सम्पूर्ण भारत की विजय और मुगल-साम्राज्य की स्थापना।
	जैकब फूगर की मृत्यु।

इस तालिका मे एक भी ऐसी घटना का उल्लेख नही है जिसका सम्बन्ध केवल विशुद्ध राजनीति या युद्ध से हो। उल्लिखित २० घटनाओ मे से १७ का सम्बन्ध केवल सामाजिक और आर्थिक इतिहास से है। यद्यपि यह तालिका भी अन्य तिथि-तालिकाओ के समान ही सच्ची घटनाओं से युक्त है तथा असत्य का एक भी उल्लेख इसमे ढूंढे नही मिलता, फिर भी यह मार्क्सवादी शिक्षा का ज्वलन्त उदाहरण है और मार्क्सवाद की शिक्षा के प्रसार के उद्देश्य से तैयार की गयी है।

यह सही है कि कोरे आँकड़ों और तथ्यों की अपेक्षा वाक्यो और निबन्ध के

रूप में लिखित विवरण में पक्षपात के समावेश की गुंजाइश अधिक रहती है। अतः नितान्त तटस्थ दिखाई पड़ने वाली तिथि-तालिकाएँ यदि भ्रामक सिद्ध होती हैं तो इतिहास की वर्णनात्मक पुस्तकों को शरारतपूर्ण ही कहना पड़ेगा। हम देख ही चुके हैं कि तिथि-तालिकाओं का चुनाव पूर्वाग्रह के आधार पर किया जाता है; और यही बात पाठ्य पुस्तकों के सम्बन्ध में सही उतरती है। व्यापक दृष्टिकोण के गिबन या टायनबी या मेकाले-जैसे मान्य लेखकों में भी यह पूर्वाग्रह स्पष्टतः मौजूद है। इनके ग्रन्थ लिखे तो ऐसे व्यापक आधार पर गये हैं कि उन्हें पूरा करने में १५० वर्षों का समय लगे परन्तु वे 'ह्विग' (उदार) चश्मे की आँखों से इतिहास-परीक्षण के टकसाली नमूने हैं। आकार में पुस्तक जितनी ही छोटी होगी उतनी ही अधिक वह पक्षपात के जहर में बुझी हुई होगी क्योंकि छोटी पुस्तक में,अन्य बातों के समान होते हुए भी, तथ्यों का चयन अधिक कड़ाई से करना पड़ता है। अतएव स्कूलों की पाठ्य पुस्तकें आकार में सबसे छोटी होने के कारण सर्वाधिक पक्षपातपूर्ण प्रभाव डालने वाली होती हैं। किसी-न-किसी रूप में यह बात बहुत समय से सर्वस्वीकृत हो चुकी है। इतिहास के शोधपूर्ण आचार्य लेखकों को यह शिकायत सदैव रही है कि स्कूलों में पढ़ायी जाने वाली इतिहास पुस्तकें अवास्तविक और शोधरहित होने के कारण मूलतः भ्रामक होती हैं। यह आरोप अधिकांश में अप्रासंगिक होते हुए भी सही तो है ही, क्योंकि पाठ्य पुस्तकों की रचना स्कूली बच्चों को ध्यान में रखते हुए करनी होती है। यदि इनमें तथ्यों का चयन अधिक कड़ाई के साथ किया जाता है तो शिक्षा देने की दृष्टि से चयन की यह कड़ाई अनिवार्य ही होती है। परन्तु इनमें बहुत-से तथ्यों का छोड़ दिया जाना वैसा आपत्तिजनक नहीं है जितना कि गिबन या मेकाले या टायनबी के इतिहास ग्रन्थों के सम्बन्ध में जो कि अपनी रचना में एक विशेष दृष्टिकोण प्रतिपादित करने के उद्देश्य से अपने अनुकूल तथ्यों को ही लेते हैं। इतिहास के शास्त्रीय ग्रन्थ उतने ही पूर्वाग्रहयुक्त होते हैं जितनी कि स्कूली पाठ्य पुस्तकें। जिस किसी ने विभिन्न देशों, विभिन्न धर्मावलम्बी या विभिन्न राजनीतिक मान्यताओं वाले लेखकों के एक ही विषय पर लिखे गये ग्रन्थ पढ़े होंगे वह हमारे कथन की हामी भरेगा। ऐसे ही एक लेखक का कहना है 'कुछ तथ्यों को छोड़े बिना इतिहास लिखना सम्भव ही नहीं है...' इतिहास के रूप में हमें जो कुछ पढ़ने को मिलता है, यद्यपि तथ्यों

पर ही आधारित होता है, सही माने में तथ्यपूर्ण विवरण न होकर परम्परागत स्वीकृत विवेचनों की शृंखला मात्र होती है[1] वास्तव में 'परम्पराओं के सरल और संक्षिप्त किये जिस विवरण को लोग इतिहास का नाम देने के अभ्यासी हो गये हैं'[2] वह विभिन्न प्रकार से सरल और संक्षिप्त किया जाता है। इतिहास के शास्त्रीय विवेचन वाले ग्रंथों में (सम्भवतः) स्कूली इतिहास पुस्तको की अपेक्षा संक्षेपीकरण की मात्रा कम होती है; परन्तु यह प्रक्रिया मौजूद दोनों कोटि की रचनाओं मे रहती है और इसलिए उस हद तक दोनो ही असत्य होती हैं।

आज सम्पूर्ण ससार जानता है कि राजनीतिक प्रचार के लिए इतिहास मनमाने ढंग से तोडा-मरोड़ा जाता है। परन्तु इस बात को थोड़े ही लोग समझते है कि 'दि डिक्लाइन एण्ड फ़ाल' से लेकर 'लिटिल आर्थर्स इंग्लैंड' तक इतिहास की प्रत्येक पुस्तक एक विशेष तथ्य प्रतिपादित करता है जो जान-बूझकर या अनजाने ही पूर्वाग्रह युक्त होता है। हमे मालूम ही है कि गिबन ने बडी चतुराई से ईसाई धर्म का खूब परिहास किया है। परन्तु 'लिटिल आर्थर्स इंग्लैंड' में भी इतिहास का स्वरूप अंग्रेजी रंग से अत्यधिक रँगा हुआ तो है ही, 'लिटिल आर्थर' (छोटे अंग्रेज बच्चो) के उपयुक्त बनाने के लिए उसे और भी लीपा-पोता (शुद्ध भाव से ही) गया है। ये दोनों पुस्तकें अभी तक प्रचलित है और कई पीढ़ियो के पाठको को सन्तुष्ट करती रही है। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि इन पुस्तको में अपने जमाने का अरुचिकर पूर्वाग्रह नही है। गिबन और लिटिल आर्थर से भिन्न ऐसी हजारों, सभी स्तर की, इतिहास पुस्तकों की तो चर्चा ही व्यर्थ है जिन्हे एक पीढ़ी के लोग तो बडी उत्सुकतापूर्वक पढते हैं किन्तु उसके बाद की पीढी के लोग प्रत्यक्षतः उन्हें, विवरण के पुराने पड़ जाने के कारण, हाथ से छूते भी नही है। इतिहास की जिन पुस्तको की उन्नीसवी शताब्दी में अत्यधिक माग थी उनमे से कितनी आज ऐसी बची हैं जिन्हें हम आजकल आनन्द प्राप्त करने के लिए पढ़ना चाहते हैं। आज मेकाले अत्यन्त 'ह्विग' दृष्टिकोण के लेखक लगते है, फ्रोउड अति साधारण, सीली

१. जी. बाराक्लोग : 'हिस्ट्री इन ए चेंजिंग वर्ल्ड'।
२. सी. वी. वेजवुड : 'दि थर्टी इयर्स वार'।

नितान्त साम्राज्यवादी। और अब तक लिखे गये सामाजिक इतिहास के मूल स्रोत ग्रीन में हम सामाजिक दृष्टिकोण की कमी पाते है। आज यह सभी लेखक लोकप्रिय नही रहे है। कारण यही कि इनके ग्रन्थ जिस दृष्टिकोण से लिखे गये थे वह आज अग्राह्य हो गया है। और गत वर्ष की स्कूली पाठ्य पुस्तकों की दशा यह है कि उनका कही पता ही नही है।

आज की लिखी हुई इतिहास पुस्तको की भी कल यही दशा होगी क्योंकि वे आगे की पीढी के लोगों की रुचि के प्रतिकूल हो जायँगी। परन्तु इन पुस्तको में पूर्वाग्रह की मात्रा वर्तमान और भविष्य या भूत और वर्तमान के रुचिपरिवर्तन तक ही सीमित नही है। इन सभी में स्वयं अपने समकालीनों के प्रति दुराग्रह की भावना भी व्याप्त है। यह बात ब्रिटिश और विदेशी पुस्तको पर समान रूप से लागू होती है। नाज़ी, फासिस्ट और कम्यूनिस्ट लोगो ने इतिहास पुस्तकों को जिस प्रकार गढा है उसे हम सभी जानते है (शायद इन पुस्तको को स्वय न पढ़कर सुनी-सुनायी बातों के आधार पर हमने उनके सम्बन्ध मे अपनी यह राय कायम कर ली हो ?) परन्तु हमे यह नही भूलना चाहिए कि अधिकांश नाज़ी, फासिस्ट और कम्यूनिस्ट अपनी इन पुस्तको को गढा हुआ नही किन्तु सच्चा इतिहास मानते है। यदि आपको नाज़ी, फासिस्ट या कम्यूनिस्ट सिद्धान्तो के प्रति आस्था है तो आप इतिहास पुस्तको के लिए तथ्यो का चयन अनिवार्यत उसी दृष्टिकोण से करेंगे और इसमे आपको कोई भी अनौचित्य नही दिखाई देगा। ब्रिटिश लोगों की सामान्यतया ऐसी धारणा है कि वे ऐसा पक्षपात कर ही नही सकते। वास्तव मे हम यह बात वैसी ही ईमानदारी से मानते है जितनी कि दूसरे लोग और इसलिए हमारे इतिहास ग्रन्थो पर इसी मान्यता के अनुरूप रग चढ़ा रहता है। हम सीली की प्रशसा करते है कि उसने अपनी पुस्तक 'दि एक्सपैंशन आफ इग्लैंड' का विषय 'यूरोप के उत्तर पश्चिमी कोने मे स्थित एक छोटे से टापू' तक ही सीमित नही रखा और यह भुला देते है कि यह पुस्तक जान-बूझकर राजनीतिक प्रचार के उद्देश्य से लिखी गयी थी। ब्रिटिश लोगो को इस प्रकार का प्रचार एकदम निरीह लगता है, परन्तु इसी प्रकार नाज़ियो और फासिस्टो तथा कम्यूनिस्टो को अपने नाज़ीवाद, फैसिस्टवाद और कम्यूनिज्म का प्रचार भी निर्दोष जान पड़ता है। ब्रिटेन और अमेरिका में न जाने कितनी, प्रारम्भिक और उच्च कोटि की, पुस्तकें जनसत्तात्मक

प्रणाली में ईमानदारी से विश्वास रखनेवाले लेखकों ने लिखी हैं जिन्होंने पार्ला-मेन्टरी पद्धति के शासन के गुणों का बखान करना अपना पवित्र कर्तव्य समझा है। कभी-कभी तो हमारे शिक्षाविदों ने अपने इस उद्देश्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार भी किया है। इतिहास की शिक्षा विषय की एक अमेरिकन पुस्तक में यह दावा डंके की चोट पर किया गया है कि 'इतिहास के अध्ययन में प्रत्येक विद्यार्थी को जनसत्तात्मक राजनीतिक परिपाटी के महत्त्व के प्रति अटूट आस्था होनी चाहिए.... उसे जनसत्तात्मक परिपाटी के मार्ग में सदा उपस्थित होने वाले अवरोधों के प्रति सजग रहते हुए इस परिपाटी के सीमित होने से बचाकर उसके प्रसार के लिए कटिबद्ध रहना चाहिए।' सामान्य ब्रिटिश या अमेरिकन नागरिक इस प्रकार के भाव की सराहना ही करेगा। किन्तु यदि हम जनसत्तावाद के इस प्रकार के प्रतिपादन को सही मानेंगे तो फिर रूस के इस दावे की हम किस मुँह से निन्दा कर सकेंगे कि 'विद्यार्थियों मे विश्वव्यापी कम्यूनिस्ट प्रसार की भावना भरने के लिए आधुनिक इतिहास के पाठ्यक्रम निर्धारण का प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।' यदि 'जनसत्तात्मक राजनीतिक परिपाटी के महत्त्व के प्रति आस्था का प्रतिपादन' अमेरिका के इतिहास शिक्षक के लिए उचित है तो फिर रूस के इतिहास शिक्षक के लिए 'विश्वव्यापी कम्यूनिस्ट प्रसार भावना' के प्रति निष्ठा का प्रसार कैसे अनुचित कहा जा सकेगा। दोनो ही तो अपनी-अपनी मान्यताओ के प्रति सच्ची श्रद्धा रखते है।

हम मानते हैं कि अमेरिकन शिक्षक रूस के शिक्षक की भावनिष्ठा में सन्देह प्रकट करेगा और यही आरोप रूसी शिक्षक अमेरिका के शिक्षक के सम्बन्ध में अवश्य ही करेगा। परन्तु इस प्रकार के तर्क-कुतर्क से तो हम किसी भी नतीजे पर नही पहुँचते। अपने से विरोधी विचार रखने वाले की विचारनिष्ठा पर सन्देह करना ही इतिहास पुस्तकों की भ्रान्तियों का उद्गम स्रोत है और हमारे जीवन की भ्रान्तियो की उत्पत्ति भी यहीं से होती है। नित्शे को इस बात का उचित गर्व था कि वह 'प्रश्न के दूसरे पहलू को भी देखने की क्षमता' रखने वाले लोगों में से है। नित्शे के दर्शन के सम्बन्ध में हमारा मत चाहे जो भी हो यह तो हमें मानना ही होगा कि संसार में अपने से विरोधी पक्ष को भी समझने की प्रवृत्ति का अभाव है। हम अपनी राजनीतिक, सामाजिक, बौद्धिक और धार्मिक परम्परा-

गत परिधियों के बन्धनों से मुक्त होकर अपने विरोधी दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न ही नही करते। लगभग एक शताब्दी बीत जाने के बाद मैथ्यू आर्नाल्ड के निम्न अनुरोध आज भी सही उतरते हैं :—

'संसार के श्रेष्ठतम ज्ञान और चिन्तन के मनन एवं प्रतिपादन द्वारा नये और सच्चे विचारों की अजस्र धारा प्रवाहित होने की आवश्यकता है। इंग्लैंड ही तो सम्पूर्ण विश्व नही है। अत. यह स्वाभाविक ही है कि संसार के सर्वश्रेष्ठ चिन्तन और ज्ञान का बहुत बडा अश इग्लैंड में नही अपितु विदेशो मे उद्भूत हो। परन्तु यह भी उतना ही स्वाभाविक है कि एक ओर तो हम ऐसे विदेशी ज्ञान और चिन्तन से अनभिज्ञ हों तथा दूसरी ओर इग्लैंड की ज्ञान-धाराओ मे डूबे रहने के कारण हम उनका अस्तित्व भुला ही न पाये। अतः अग्रेज आलोचक को विदेशी ज्ञान का अर्जन और मनन पूरी तरह करना चाहिए, विशेषतया उसके ऐसे उपयोगी और महत्त्वपूर्ण अगो का जिनके, किसी कारण, उपेक्षित रह जाने की विशेष आशका हो।'

क्या यह कि मैथ्यू आर्नाल्ड के विचारो के साथ-साथ इतिहास परिषद् के एक पैम्फलेट का उल्लेख करना बेतुका होगा जिसमे जोर देकर कहा गया है कि इतिहास की शिक्षा देने में 'यह महत्त्वपूर्ण है कि अपने देश से नितान्त भिन्न भौगोलिक विशेषताओ वाले तथा अपने से प्रतिकूल शासकीय लक्षणो से युक्त देशो को दृष्टान्त स्वरूप चुना जाय।' जब तक प्रत्येक राष्ट्र अपने आवरण कोष से बाहर निकलकर देखने का और भी ठोस प्रयत्न नही करता तब तक हमारी इतिहास पुस्तको मे परम्परागत गलतियों और असन्तुलित मूल्याकन का पिष्टपेषण होता ही रहेगा। दूसरे लोगो को हमारी ये भूले बहुत फूहड लगती हैं परन्तु वे स्वयं भी कुछ दूसरे ढंग की गलतियो और भ्रान्त धारणाओ के शिकार बनते हैं।

विदेशियों की ऐसी कुछ गलतियाँ और भ्रान्त मत विदेशी इतिहास पुस्तको से अपरिचित ब्रिटिश लोगो को विस्मित कर देते हैं। उदाहरण के लिए स्पेन के बच्चो को 'आरमाडा' (स्पेन और इंग्लैंड के बीच युद्धपोतों के बेडे वाला प्रसिद्ध युद्ध) सम्बन्धी जो विवरण बहुधा बतलाया जाता है उसे पढ़कर अगरेज लोग एकदम स्तब्ध रह जाते हैं। इस विवरण के अनुसार आरमाडा की दुर्घटना केवल खराब मौसम (और किसी हद तक स्पेन के दुर्भाग्य तथा अक्षमता) के कारण हुई और अगरेजों द्वारा इस अवसर पर किये गये प्रयत्न एकदम प्रभावहीन रहे। यदि इस दृष्टान्त

पर विश्वास न जमता हो तो क्रीमिया के युद्ध का पश्चिमी जर्मनी का विवरण या १९३९–४५ के महायुद्ध सम्बन्धी पूर्वी जर्मनी का विवरण ले लीजिए। इन दोनों विवरणों में भी अगरेजों का कही कोई उल्लेख नही मिलता। अंगरेजों को इस प्रकार का इतिहास लेखन पागल के प्रलाप-जैसा ही लगेगा। परन्तु इनमें से प्रत्येक दृष्टान्त के सम्बन्ध में इस विदेशी मत प्रतिपादन का कुछ औचित्य तो दिया ही जा सकता है। स्पेन के लोग कुछ अन्य देशों की पुस्तको का हवाला दे सकते है जिनमें आर्माडा की घटना का विवरण स्पेन के मत के अनुरूप है। वे रानी एलीजाबेथ के ही आर्माडा वाले तमगे का भी अपने मत के समर्थन में उल्लेख कर सकते है जिसमें स्पेन की पराजय का कारण केवल मौसम की खराबी ही बतलाया गया है। गत विश्व-महायुद्ध में अगरेजो की सफलताओ की जानकारी यदि कम्यूनिस्ट लोग अपने बच्चो को नही कराते तो यह उनकी असन्तुलित मनोवृत्ति प्रकट करता है। परन्तु सन्तुलन का अभाव विदेशियो में बहुधा दिखाई देता है (ब्रिटिश जाति के विदेशियो में भी) और यदि कम्यूनिस्ट लोग हताहतों की संख्या तथा लड़ाई का समय अवधि के हिसाब के आँकडो में ब्रिटिश योगदान का उल्लेख न करे तो उनका पक्ष उचित न होते हुए भी एकदम बे सिर-पैर नही कहा जा सकता।

इतना तो स्पष्टत: सिद्ध होता है कि चाहे सही हो या गलत, सभी राष्ट्र घटनाओं को अपने ही ढग से देखने के अभ्यासी है और उनकी इतिहास पुस्तकें, विशेषतया स्कूली पाठ्य पुस्तकें इसी दोष से युक्त है। सम्पूर्ण इतिहास से इसके न जाने कितने उदाहरण उपस्थित किये जा सकते है। सभी देशो के लोगों में (जिनमें हमारे देशवासी भी है) अपने सभी युद्धो में अपने राष्ट्र के शौर्य का वर्णन बढ़ा-चढाकर करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। इसके दृष्टान्तस्वरूप 'सौ वर्षों के युद्ध' सम्बन्धी फ्रेंच तथा ब्रिटिश विवरण हमारे सामने है। ब्रिटिश स्कूलो की इतिहास पाठ्य पुस्तिकाओ में इसका जो अति संक्षिप्त वर्णन मिलता है उसमें सदैव केवल स्ल्यूईस, क्रेसी, पोइटीयर्स तथा अगिनकोर्ट के ४ युद्धो का उल्लेख है। दूसरी ओर फ्रास की इतिहास पाठ्य पुस्तिकाओं के ऐसे ही सक्षिप्त विवरणो में इनमें से एक भी युद्ध का उल्लेख नही है, प्रत्युत बर्ट्रान्ड डू ग्यूश्लिन में फ्रेंच रक्षा चातुर्य, जोन आफ आर्क की गाथा तथा सौ वर्ष बाद अंततः फ्रांस की विजय का बखान है। परिणाम यह है कि अंगरेज बच्चो के मन में तो यह विश्वास पनपता है कि अंगरेज लोग

फ्रेंच की अपेक्षा श्रेष्ठ योद्धा होते है। इसके प्रतिकूल फ्रांस के बच्चे अपने योद्धाओ को अंगरेजों से अच्छा सैनिक मानने की प्रेरणा पाते हैं। इन परस्पर विरोधी विवरणो का परिणाम यह भी होता है कि अग्रेज बच्चे यह देखकर हैरान हो उठते हैं कि इतने युद्धो में अग्रेजों के विजयी होने के बाद भी वे फ्रांस की भूमि से खदेड़ कर बाहर कर दिये गये। स्पेन की राजगद्दी के उत्तराधिकार तथा नेपोलियन के युद्धों के इतिहास की भी यही दशा है। इग्लैड के स्कूली विद्यार्थियों को ब्लेनहेम, रामिलीज, ओडेनार्डे तथा मालप्लाके की लड़ाइयो के नाम और तारीखें तथा उनमे प्रयुक्त रणनीति की भी बाते याद करनी ही होती है। दूसरी ओर कितनी ही फ्रेंच इतिहास पुस्तकों में इन युद्धो का उल्लेख भी नहीं मिलता, यहाँ तक कि मार्लबरो की भी कोई चर्चा नही की जाती। शायद ही कोई फ्रेंच पुस्तक हो जिसमें डिनाइन का नाम न हो, परन्तु अंग्रेजी की किसी पुस्तक मे यह ढूंढे नही मिलता। दोनो देशो के विद्यार्थियो के मन पर यही विश्वास जमाया जाता है कि युद्ध में उनके अपने देश की ही विजय हुई। अपने-अपने ढग से बात दोनो की सही है, क्योकि स्पेन के राज्य उत्तराधिकार के युद्ध मे स्पेन की राजगद्दी पर फ्रांस वाले का अधिकार हुआ किन्तु युद्ध की समाप्ति पर, पहले की अपेक्षा, इग्लैड के साम्राज्य का विस्तार कही अधिक हो गया। नेपोलियन के विरुद्ध युद्ध के इतिहास की दशा यह है कि अंग्रेजी की सभी पाठ्य पुस्तको मे मारेंगो, उल्म, आस्टरलिज, जेना, फ्रीडलैंड, बोरोडिनो तथा लीपसिक के सम्मिलित विवरणो को जितना स्थान दिया गया है उससे कही अधिक विस्तृत प्रशस्ति ट्राफाल्गर और वाटरलू की की गयी है। इसे हम अस्वाभाविकता नही कहेंगे परन्तु इससे इग्लैड में नेपोलियन की ख्याति को अनुचित बट्टा तो लगता ही है। वाटरलू के युद्ध के बारे मे तरह-तरह से जो गुणगान किया गया है वह तो उपहासास्पद-जैसा हो गया है। इतिहास शिक्षको के अभी हाल में हुए एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में यह प्रश्न उठा कि युद्ध में विजय का श्रेय किस सेनानायक को दिया जाना चाहिए। ब्रिटेन, अमेरिका और इटली के प्रतिनिधियों ने एक स्वर से वेलिंग्टन का नाम लिया, पश्चिमी जर्मनी के प्रतिनिधि ने ब्लूचर का, फ्रेंच प्रतिनिधि ने पहला स्थान ब्लूचर को और दूसरा वेलिंग्टन को दिया, डेनमार्क के प्रतिनिधि ने इसके विपरीत, पहले स्थान पर वेलिंग्टन तथा दूसरे पर ब्लूचर का उल्लेख किया और आस्ट्रेलिया तथा नार्वे के

प्रतिनिधि वेलिंग्टन तथा ब्लूचर दोनों को एक-जैसा महत्त्व देने के पक्ष में थे। डच प्रतिनिधि इस विषय पर मौन ही रहा, परन्तु बेल्जियम के प्रतिनिधि से चुप नही रहा गया और धड़ल्ले के साथ कह बैठा कि मुख्य सेनानायक होने के नाते विजयमाल तो वेलिंग्टन के गले ही पड़ेगी, किन्तु यदि बेल्जियम सेनानायक ने वेलिंग्टन के पीछे हटने के आदेश की उपेक्षा न की होती तो युद्ध पराजय निश्चित थी।

स्पष्टत: इन विरोधी दृष्टिकोणों का कारण अनुसंधान या अध्ययन की कमी नही है (जैसा कि इतिहासविद बहुधा मान बैठते है) अपितु सर्वविदित और जाने माने तथ्यों का पूर्वाग्रहपूर्ण चुनाव किया जाना है। कठिनाई यह होती है कि जाने-माने और सर्वविदित तथ्य विभिन्न देशो मे एक-जैसे नही होते। प्रत्येक देश के लोग अपने अनुकूल तथ्यों को ही याद करते रहते हैं तथा उनका लेखा रखते हैं और विदेशियों के अनुकूल तथ्यों की उपेक्षा करते है। सभी देशों में किसी प्रश्न के दूसरे पहलू को भी देखने तथा समझने की प्रेरणा का एकदम अभाव है। किसी भी देश के लोग अपनी परम्परागत विचारसारिणी तथा जीवन दर्शन की बौद्धिक परिधि से अलग होकर (पूर्वाग्रह और पक्षपात से बचने के लिए बडी लगन और दृढ़ता आवश्यक होती है) यह सोचने की चेष्टा ही नही करते कि विदेशो के लोगों का जीवन किन परिस्थितियो और वातावरण मे विकसित हुआ है।

'विजय की अपेक्षा सत्य के प्रति हम जितना ही अधिक आकर्षित होते जायेंगे, अपने विरोधी के विचारों के आधारभूत कारणो को समझने के लिए हम उतने ही अधिक उत्सुक होते जायेंगे। हमारे मन मे यह शंका उठने लगेगी कि जब हमारा विरोधी अपने पक्ष के प्रति इतना दृढनिष्ठ है तो निश्चय ही उसे कुछ ऐसी बातें अवश्य मालूम हैं जिनसे हम अपरिचित हैं। फलत. सत्य के सही स्वरूप को समझने के लिए तत्सम्बन्धी अपने अनुभव के साथ हम विपक्षी के अनुभव की भी तालमेल बैठाने का प्रयत्न करेंगे।' [1]

हमें यह देखकर आश्चर्य ही होगा कि कितनी ही ऐसी मूलभूत बातों पर

१. हर्बर्ट स्पेंसर : फर्स्ट प्रिंसिपिल्स।

दूसरों की दृष्टि जा चुकी होगी जो हमारे देखने से छूट गयी होगी। यह बात केवल विस्तार सम्बन्धी तथ्यों तक ही सीमित नहीं रहती। संसार के जिस छोटे-से हिस्से में हमारा देश स्थित है उसी सकुचित दृष्टि से देखने के अभ्यस्त होने के कारण ही हमारा इतिहास का ज्ञान मिथ्यापूर्ण हो जाता है। उदाहरण के लिए पश्चिमी यूरोप में इतिहास के तीन सुस्थिर विभाग किये जाते हैं —'प्राचीन', 'मध्यकालीन' और 'आधुनिक।' 'प्राचीन' काल की सीमा रोमन साम्राज्य के अन्त तक मानी जाती है, 'आधुनिक' काल पुनर्जागरण के समय (रिनेसा) से प्रारम्भ होता है और 'मध्य' काल इन दोनो के बीच में आता है। परन्तु आधुनिक काल की परिधि सत्रहवी शताब्दी से और आगे खिसकती चली जाती है और इसलिए यह नामकरण दिन-ब-दिन निरर्थक होता जा रहा है। तब इस काल को मध्य युग कहने लगे। परन्तु मध्य युग (या अग्रेज लोग जिसे मध्य युग कहते हैं) की बात पश्चिमी यूरोप के ही सम्बन्ध में लागू होती है, उसके बाहर नही। ओडर के पार न तो कही पुनर्जागरण हुआ, न रोमन साम्राज्य और इसीलिए 'मध्य काल' भी नही। प्राचीन बैज़ेन्टीन साम्राज्य वाले प्रदेश मे मध्य काल का कोई प्रारम्भ ही नही मिलता, यद्यपि सम्भवत· १४५३ मे वह समाप्त हो जाता है। इल्ब के पूर्व वाले यूरोप के क्षेत्र में हर जगह आधुनिक काल के प्रारम्भ की गणना अब पुनर्जागरण काल से नही बल्कि सत्रहवी शताब्दी के मध्य से की जाती है। दूसरी ओर सम्पूर्ण एशिया और अफ्रीका मे समस्त इतिहास पश्चिमी ससार के लिए एकदम अपरिचित आधार के कालो मे विभाजित किये जाने की आवश्यकता है।

कम्यूनिस्ट देशो में ऐसा किया भी जाने लगा है। दोनो मुख्य कम्यूनिस्ट देश, रूस और चीन ऐसे देशो की कोटि में हैं जो इतिहास के क्षेत्र में हमारे-जैसे मध्य युगों की बात नही मानते। कम-से-कम कम्यूनिस्ट यूरोप में तो इतिहास लेखक मध्य युगो को एक ही में मिलाने लगे है। वहाँ इतिहास का विभाजन तीन के स्थान पर दो में ही करने की प्रथा चल पड़ी है और इन दोनो कालो की विभाजन रेखा (हम रूढ़िवादी पश्चिम देशो के निवासियो को इसमें आश्चर्य होता है) उन्होने इग्लैण्ड के गृह युद्ध को ठहराया है। इसका कारण प्राय. यह बतलाया जाता है कि इग्लैण्ड के गृह-युद्ध के परिणामस्वरूप शासनसत्ता अमीर-उमराओं के हाथों से हटकर मध्य वर्ग के हाथो में आ गयी और कम्यूनिस्ट जनसत्ता

तथा राज-घरानो के शासन के बीच की स्थिति उत्पन्न कर दी । कम्यूनिस्ट दृष्टिकोण से यही इतिहास का मध्ययुग है । किन्तु कम्यूनिस्ट दृष्टिकोण के अतिरिक्त भी कितने ही अन्य आधारो पर इतिहास के समय विभाजन के लिए यह आधार उचित ठहराया जा सकता है । इतिहास के आधुनिक काल के प्रारम्भ का जो श्रेय 'रिनेसा' (पुनर्जागरण) तथा 'रिफार्मेशन' को मिलता आया है उसे पिछली एक या दो पीढ़ियो के पश्चिमी इतिहासकार अस्वीकार करने लगे हैं । इनका तर्क यह है कि 'रिफार्मेशन' नये युग का प्रारम्भ न होकर वास्तव में पिछले युग का अन्त था । 'रिनेसा' के सम्बन्ध मे तो इनमें से कुछ इतिहासकार तो उसका अस्तित्व भी नही स्वीकार करते । दूसरी ओर १६५० ई० के लगभग ब्रिटिश पार्लियामेण्ट ने तो एक अग्रेज राजा को मौत के घाट उतारा और उसके उत्तराधि-कारियों को हथकडियाँ डलवा दी । १६४८–५९ के यूरोपीय शान्ति समझौते ने सम्पूर्ण यूरोप पर प्रभुता स्थापित करने के हैप्सबर्ग घराने के स्वप्न का अन्त करके फ्रास को इस उच्च स्थिति मे ला दिया । इसी के परिणामस्वरूप प्रशा के आधिपत्य का प्रारम्भ हुआ, स्वीट्जरलैण्ड और हालैण्ड की सत्ता की सर्वप्रथम स्वीकृति हुई और कुछ काल के लिए जर्मनी का अस्तित्व समाप्त कर दिया । राजनीतिक दायरे से बाहर, १६४२ मे गैलीलियो की मृत्यु हुई और न्यूटन पैदा हुआ, बेकन ने तो पहले से ही विज्ञान की पद्धति कोरी कल्पनामूलक न रखकर प्रयोगात्मक बना देने की व्यवस्था कर दी थी, यूरोप भर मे विज्ञान एकेडेमियों की स्थापना प्रारम्भ हो गयी और कल-कारखाने भी विकसित होने लगे और अटलांटिक महासागर के पार उपनिवेशवाद की प्रभुता बढी । मेडीटरेनियन युग की समाप्ति और अटलांटिक युग का प्रारम्भ भी सत्रहवी शताब्दी मे ही हुआ ।

हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि सत्रहवी शताब्दी के बाद से इतिहास का क्षेत्र और भी विस्तीर्ण होकर उसमे बिलकुल नये-नये विषयो का भी समावेश किया जाना चाहिए था । ऐसा ही होना उचित था, किन्तु वास्तव मे ऐसा हो नही पाया । सत्रहवी, अठारहवी और उन्नीसवी शताब्दी के इतिहासकार अपने पूर्ववर्ती काल के घिसे-पिटे राजनीतिक दायरे मे ही इतिहास को बाँधे रहे । चाहे हम क्लैरेंडिन को ले या बोसुए को, अथवा वाल्टेयर, गिबन, ह्यूम या मेकाले को, यहाँ तक कि रैंक की भी इतिहास रचनाओ में राजनीति के अतिरिक्त और कुछ है

ही नही । मार्क्स के समय से ही इतिहास में आर्थिक पहलू को भी उचित प्रतिष्ठा प्राप्त हुई । आज भी तो हमारे इतिहासकार विज्ञान और उद्योग पक्षों की ओर (खेती-बारी में हुई औद्योगिक क्रान्ति का भी यही हाल है) अपनी रचनाओ मे उचित ध्यान नही देते जब कि वास्तविकता यह है कि परिवार और समाज की आधारभूत बातो की दृष्टि से आधुनिक संसार के वर्तमान स्वरूप के निर्माण का श्रेय विज्ञान और उद्योग को ही है ।

केवल राजनीतिक स्तर पर ही विचार करने से भी इतिहास ग्रन्थ नितान्त असन्तुलित ठहरते हैं । यदि पिछले समय के इतिहास लेखको को अपने जन-सत्तात्मक पाठकों को यह बतलाना उचित था कि जनसत्ता की यह भावना उनमे कैसे और कहाँ से आयी तो क्या आज के इतिहास लेखको के लिए अपने पाठको को यह समझाना और भी आवश्यक नही है कि हमारा समाज किस प्रकार क्रमश. अधिकाधिक अन्तर्राष्ट्रीय चेतनाशील बन गया है । परन्तु आज की इतिहास की ऐसी पाठ्य पुस्तकें कितनी है जिनमे ग्रोटियस के नाम का भी उल्लेख मिलता हो । इतना ही नही, यूरोप में इतिहास के गवेषणा ग्रन्थो में से ऐसे कितने हैं जिनमे ग्रोटियस के अनुयायियो—पेन, सेंट पीरी, वात्तेल, बेन्थम, कान्ट, विक्टर ह्यूगो आदि में यूरोपियन भावना के विकास सम्बन्धी विवेचन एक पृष्ठ में भी दिया गया हो ।

हमारे इतिहास ग्रन्थो में जिन क्षेत्रो और जिस समय की समीक्षा की गयी है उन दोनो के ही सम्बन्ध मे यह बात लागू होती है । इन ग्रन्थो मे से अधिकाश ओडर और डैन्यूब के पश्चिम के देशो में लिखित और प्रकाशित हैं । इतिहास के उच्च और खोजपूर्ण ग्रन्थो में भी बाइजेंटिनम, पोलैण्ड और तुर्की के बारे में स्वल्प उल्लेख ही मिलते हैं, स्कूली पाठ्य पुस्तको मे तो यह एकदम उपेक्षित हैं । हाँ, जहाँ ये पश्चिमी आक्रमणो के शिकार हुए है उसका विवरण हमारे इतिहास-ग्रन्थों में अवश्य मौजूद है । फलतः शिक्षित यूरोपियन लोग बाइजेंटाइन की महत्ता की आधारभूत बातो से प्रायः अपरिचित ही रहते हैं । पोलैण्ड और तुर्की के इतिहासों के बारे में हमारा यह अज्ञान और भी अधिक है । ब्रिटिश विश्वविद्यालयो के किन्ही भी दस स्नातकों से यदि आप पूछ बैठे कि सोलहवीं शताब्दी में यूरोप का सबसे बडा राज्य कौन था तो प्राय प्रत्येक का उत्तर गलत

ही निकलेगा । फिर पूर्वी यूरोप के आगे पूर्व के महान् देशों का जो समूह है और जिनका पुराना इतिहास अतुलनीय गौरव से युक्त है उनके सम्बन्ध में तो पश्चिमी यूरोप के लोग एकदम अज्ञ ही हैं । संसार के इसी पूर्वीय भाग में अधिकांश विश्व सभ्यताएँ पैदा और विकसित हुई हैं । किन्तु हालत यह है कि विश्व के इस भूभाग के इतिहास की मुख्य बातों से यूरोप और अमेरिका के लोग एकदम ज्ञानशून्य हैं । हैरानी तो इस बात की है कि स्वयं पूर्व के देशो के लोग अपनी इस गौरवगाथा से एकदम अपरिचित है । पूर्व के अधिकाश देशो में इतिहास और भूगोल के महत्त्व की परम्परा ही नही रही है । पश्चिम की तुलना में पूर्व के इतिहास की आधार-भूत सामग्री ही उपलब्ध नहीं है और यह तब तक प्राप्त नही हो सकती जब तक कि कई पीढियों तक धैर्यपूर्वक अध्ययन और अनुसन्धान न किया जाय । पूर्व के मामलो के अध्ययन मे यूरोपियन लोगों को यह शिकायत ही है कि किसी भी यूरोपीय भाषा मे चीन के इतिहास सम्बन्धी एक भी अच्छी पुस्तक नहीं मिलती । ऐसी ही शिकायत अधिकांश भारतवासी इतिहासप्रेमियों को अपने देश के इतिहास के सम्बन्ध में भी है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि इतिहास के जिस स्वरूप से यूरोप में लोग परिचित है वह नितान्त असन्तुलित है । इस असन्तुलन का एक कारण तो हमारे सामने यह है ही कि ससार के अधिकाश भाग का इतिहास अभी लिखा ही नही गया है और न लिखा ही जा सकता है—शायद कभी भी न लिखा जा सकेगा । जो कुछ लिखा गया है वह भी असन्तुलित है । कारण यही है कि परम्परागत इतिहास लेखन प्रणाली के अनुसार केवल उन थोड़े-से क्षेत्रो का जिनमें हमारी तात्कालिक रुचि होती है उन्ही का इतिहासवृत्त हम प्रस्तुत करते हैं । दूसरी ओर, यद्यपि आधुनिक यातायात साधनो ने यूरोप और पश्चिमी ससार से दूरस्थ देशो को भी समान राजनीतिक तथा सास्कृतिक परिधि मे बाँध दिया है, हम ऐसे देशों के इतिहास की उपेक्षा करते है । इसी कारण से प्रेरित होकर पूर्व की विद्याओं के महान् फ्रेंच विशेषज्ञ ग्राउसेट ने अपने 'बैलेंस शीट आफ हिस्ट्री' नामक ग्रन्थ की रचना की । इसमें समस्त संसार की ऐतिहासिक उपलब्धियों में से आधा श्रेय एशिया के देशों को दिया गया है, जब कि अधिकांश पश्चिमी इतिहास ग्रन्थों में एशिया को दशमाश या शतांश श्रेय भी नही दिया जाता ।

हमारे इतिहास की परम्परागत लेखन प्रणाली मे केवल स्थान सम्बन्धी त्रुटियाँ ही नही है वरन् वे विषय सम्बन्धी और बौद्धिक भी है । हमारी अपनी पीढी को इतिहास की उदार (व्हिग) व्याख्या से सतर्क रहने की यह चेतावनी मिल ही चुकी है कि उसमें जनसत्तात्मक पार्लियामेन्टरी पद्धति को ही मानव विकास का एकमात्र ठेकेदार मानने का पूर्वाग्रह रहता है । परन्तु इतिहास पुस्तको से हमें इतिहास के जिस असन्तुलित स्वरूप का परिचय मिलता है उसमे व्हिग व्याख्या जैसी और भी किस्मे मौजूद है । इतिहास की कट्टरपन्थी (टोरी) व्याख्या भी तो पुस्तको मे की जाती है जिसमे साम्राज्यवादी पक्ष के समर्थन का दुराग्रह रहता है । इसका प्रारम्भ लगभग एक शताब्दी पहले डिजरैली ने बडे ओजपूर्ण ढग से किया था । तब से सीली तथा किपलिग तथा फ्लेयर ने उसी दृष्टिकोण का अनुसरण किया और इस समय भी प्रतिष्ठित इतिहास लेखक उसे अपनाये हुए है । साम्राज्यवाद (कम-से-कम ब्रिटिश साम्राज्यवाद तो अवश्य ही) इसी चिन्ता मे डूबा रहता है कि गैर गोरी जातियो मे अयोग्यता की ऐतिहासिक परम्परा चली आयी है और इसलिए उनसे श्रेष्ठ होने के नाते गोरी जातियो को ही उनके उद्धार और सुधार का बोझा ढोते रहना है । परन्तु ससार की अधिकाश जातियाँ 'रगीन' (गैर-गोरी) ही है और टायनबी ने जिन बीस से अधिक सभ्यताओ का उल्लेख किया है उनमे से केवल चार के ही विकास का श्रेय यूरोप की गैर-रगीन जातियो को दिया जा सकता है । इतने पर भी ससार की किसी भी भाषा मे विश्व इतिहास सम्बन्धी ऐसी कोई पुस्तक नही है जिसमे, जीवित या मृत, रगीन सभ्यताओ का विवरण पूरे ग्रन्थ के पचमाश मे भी दिया गया हो, जब कि वे ४।५ स्थान की हकदार रही है । यथार्थ तो यह है कि आज भी यूरोप और अमेरिका के करोड़ो शिक्षित लोग इन सभ्यताओ को बनावटी और इनके निर्माताओ को जगली कोटि का मानते है । अन्य बातो के समान बर्बरता और जगलीपन की हमारी कसौटी भी ग्रीस के आदर्श वाली ही है ।

रंग और जाति के अतिरिक्त धर्म का प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण है । ससार मे धर्मो की सख्या सभ्यताओ से भी अधिक रही है और उनमे से महत्तम कोटि के चार या पाँच धर्म आज भी उन्नत रूप मे मौजूद है । इन सभी को जन्म देने का श्रेय पूर्व को ही है । परन्तु इनमे से केवल एक ही धर्म का प्रसार पश्चिम की ओर हुआ

और उसने सम्पूर्ण यूरोप को ईसाई बना दिया । इसलिए केवल इसी एक धर्म का समुचित परिचय यूरोप और अमेरिका के विद्यार्थियो को प्राप्त हो पाता है । प्रारम्भिक और उच्च कोटि की भी इतिहास पाठ्य पुस्तको मे ईसाई गिरजाघरों, धर्म सस्थानो और सस्थाओ, पोप और पादरियो, उनके भेदो और प्रभेदो, बिशपो, मठो का विवरण प्रमुख रूप से भरा पडा मिलता है । कही-कही तो इन इतिहास पुस्तकों में ईसाई धर्म के उपदेशो का भी समावेश रहता है । परन्तु किसी भी अन्य धर्म की उत्पत्ति, सगठन या उपदेशो के सम्बन्ध मे इन ग्रन्थो में नामोल्लेख या सरसरी विवरण के अतिरिक्त विस्तार की कोई जानकारी नही मिलती । फलत: हमारे स्कूलों मे पढने वाले बच्चे ईसाइयत से इतर धर्मो और उनके आध्यात्मिक तथा नैतिक तत्वों के अमूल्य भाण्डार के लाभ से वचित रहकर ही बडे और बूढे होते है ।

हेरोडोटस को इतिहास का जनक बतलाया जाता है । अपनी यात्राओ मे वह जहाँ-जहाँ गया वहाँ उसे जितना कुछ रुचिकर लगा उसका ज्ञान उसने प्राप्त किया और उसे लिपिबद्ध कर लिया । यदि कभी किसी बात से वह विशेष आकर्षित हुआ तो उसका विवरण उसने विस्तार के साथ अकित किया । जो स्थान उसे पसन्द नही आये या उसकी नजरों मे नही चढे उनके बारे मे या तो उसने नाममात्र का उल्लेख किया या एकदम उपेक्षा की । आज इतिहास के नाम से हमारे सामने जो कुछ भी प्रस्तुत किया जाता है उसकी प्रत्येक बात पर हेरोडोटस की स्पष्ट छाप दिखाई देती है ।

२

इतिहास में पूर्वाग्रह सम्बन्धी बहुप्रचलित भ्रान्तियो मे से एक यह है कि इससे बचे रहने का वास्तविक उपाय शोध करने वालो के हाथो में है। वे अपने शोधकार्य को तब तक परिश्रमपूर्वक अग्रसर करते रहे जबतक वे 'सत्य' का निरूपण करने में सफल न हो जायें। इस प्रकार 'सत्य' की वास्तविकता ज्ञात हो जाने पर पाठ्य पुस्तको के लेखको के लिए केवल इतना ही काम बाकी रह जाता है कि वे इस 'वास्तविक सत्य' का समावेश अपनी पाठ्य पुस्तको मे कर दें। देखने में बात बड़ी आकर्षक लगती है। अभिलेख विशेषज्ञो को तो यह और भी रुचिकर लगेगी क्योंकि वे जानते हैं कि अभिलेखो से अपेक्षाकृत कम परिचित इतिहासकार बहुधा कितनी ऊटपटाग बातें लिख देते है। परन्तु कितनी ही अन्य आकर्षक मान्यताओ की भाँति यह धारणा भी नितान्त अविश्वसनीय है। पहली कठिनाई तो यह है कि शोध के आधार पर निरूपित सत्य का समावेश पाठ्य पुस्तकों में हो सकने मे कितने ही वर्षों नही बल्कि कई पीढियो का समय लग सकता है। और इस विलम्ब के लिए पाठ्य पुस्तकों के लेखको को दोषी भी नही ठहराया जा सकता। शोध निबन्ध अगणित संख्या मे प्रकाशित होते रहते है और वे आदम से पहले के काल से लेकर हिटलर के बाद तक के इतिहास के किसी भी विषय पर हो सकते है। अतः इतिहास की पाठ्य पुस्तक का कोई भी लेखक इन शोध निबन्धों के शतांश से भी सम्पर्क नही रख सकता। दूसरे अधिकाश विशिष्ट शोध सम्बन्धी निबन्ध ऐसी शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित होते है जिनके अध्ययन की अपेक्षा पाठ्य पुस्तको के लेखकों से कम ही की जा सकती है। फिर, बहुधा एक शोध के बाद दूसरी शोध पहले से ठीक विपरीत तथ्य का निरूपण कर बैठती है और उसका भी प्रकाशन किसी वैसी ही दुर्लभ और अप्राप्य शोध पत्रिका में होता है। अन्त में होता यही है कि शोधो के आधार पर निरूपित 'सत्य' पहले किसी बडे इतिहास ग्रन्थ में स्थान पाता है जिसके सहारे उसका समावेश स्कूली पाठ्य पुस्तको में होता है। परन्तु इतना समय बीतते-बीतते यह नौबत भी आ सकती है कि शोधो द्वारा निरूपित

यह 'सत्य' विद्वानों की एकेडेमियों द्वारा तिरस्कृत हो चुका हो और उसे शोधकर्ता की 'इतिहास सम्बन्धी धारणा' ठहराया गया हो।

दूसरे, इस अरुचिकर तथ्य से भी हम परिचित ही हैं, चाहे अपने व्यवहार में हमे उसकी उपेक्षा भले ही करनी पड़ती हो, कि 'सत्य' स्वत: छलना है और वह हमारी पकड़ से परे है। दार्शनिक (जो अपने क्षेत्र के सम्बन्ध मे उतने ही अधिकारी हैं जितने कि इतिहास के सम्बन्ध में अभिलेखा विशेषज्ञ) असंदिग्ध रूप मे हमसे कहते है कि जिस किसी भी क्षेत्र मे और चाहे जैसे भी प्रकार से हम सत्य को पकड़ने का प्रयत्न करें वह कभी भी हमारी पकड में नही आयेगा। तभी तो वेलिंगटन को अपने समय के लोगो से कहना पडा कि वे वाटर लू के युद्ध का विवरण न लिखें क्योंकि उन्हे स्वयं ही इसकी सही जानकारी नही थी और न लिखने वाले ही उसे जान पायेंगे। इतिहास के क्षेत्र में भी 'सत्य' उतना ही छलनामय है जितना कि किसी अन्य क्षेत्र में। यह केवल इसलिए ही नही कि स्वयं देखने पर भी हम सत्य को हृदयंगम नही कर पाते बल्कि इसलिए भी कि जितना कुछ हम समझ पाते हैं उसे दूसरों को सही रूप मे बतलाने में हम और भी असमर्थ होते है। उदाहरण के लिए यदि आप किसी बच्चे से कहे कि बादशाह जान ने मैगनाकार्टा पर 'हस्ताक्षर' किये तो यूरोप के समस्त विश्वविद्यालय एक स्वर से आश्चर्य प्रकट करेंगे। परन्तु आपका यह 'असत्य' कथन आधुनिक युग के बच्चे को, जिसका पालन-पोषण आज के कामकाजी जीवन मे हुआ है, मैगनाकार्टा के बारे में बहुत अंशो मे सही स्थिति समझा सकेगा। बादशाह जान ने वस्तुत मैगनाकार्टा के सम्बन्ध में क्या किया था इसे इतिहास का विवेकी अध्यापक बहुत सोच-विचार के बाद भी एक सम्पूर्ण वाक्य में वैसे अच्छे ढग से नही बतला सकेगा। अध्यापक अपने विद्यार्थियों के दर्जे को वास्तव मे समझाना तो यह चाहेगा कि मैगनाकार्टा की धारा ३९ के सम्बन्ध मे क्या हुआ, परन्तु वह ज्यो ही मध्य युग के राजदरबारो का रोचक विवरण अपनी मूल बात की भूमिका के रूप मे बतलाने लगेगा तो विद्यार्थियो का ध्यान उन्ही दरबारी वृत्तान्तों में उलझकर रह जायगा और वह मुख्य विषय अर्थात् धारा ३९ की बात एकदम भूल जायगा। बहरहाल, हम सभी जानते है कि बहुधा बच्चों को, जब तक वे बात का मर्म समझने योग्य न हो जायें तब तक, सत्य से दूर रखना ही बुद्धिमानी की बात है। जीवन के व्यापक क्षेत्र के समान ही इतिहास सम्बन्धी

तथ्यों के बारे में भी यह नीति ठीक है। योग्य अध्यापक अपने विद्यार्थियों की क्षमता के अनुरूप ही उन्हे बतलाने के लिए इतिहास के तथ्यों का भी चुनाव कर लेते हैं। उदाहरणार्थ माध्यमिक वर्ग के किसी भी विद्यार्थी को 'साउथ सी बबुल' सम्बन्धी जटिल गुत्थियाँ शायद ही समझ मे आ सके और इसलिए उसके सम्बन्ध में उन्हें कुछ भी न बतलाना ही उचित ठहरेगा। इसी प्रकार वालपोल के राजनीतिक हथकण्डो के बारे मे चाहे बच्चे उन्हें समझने की क्षमता भी रखते हो, उन्हे कुछ भी न बतलाना ही उनके हित मे होगा। यही बात अन्य कितने ही विषयो के सम्बन्ध मे लागू होती है जिन्हे आज आँख बन्द करके पाठ्यक्रम मे रख दिया जाता है।

हम इस बात से इनकार नही करते कि पाठ्य पुस्तको मे वर्णित और बच्चो को पढाने योग्य कितने ही ऐसे ऐतिहासिक विषय है जिनके सम्वन्ध मे शोध किये जाने से नयी और आवश्यक जानकारी हासिल की जा सकती है। जिन विभिन्न युद्धो में ब्रिटिश, फ्रेंच, जर्मन और रूसी लोग एक-दूसरे के विरुद्ध लडे है उनके आधारभूत कारणों के सम्बन्ध में इन देशों के इतिहास लेखक परस्पर सर्वथा भिन्न मत प्रकट करते है। कारण यह है कि वे अपने से भिन्न पक्ष सम्बन्धी ऐतिहासिक तथ्यो से सर्वथा अपरिचित रहते है और कभी-कभी तो वे स्वय अपने पक्ष के तथ्यो की भी जानकारी नही रखते। जब तक सरकारो के विदेश विभाग अपने दफ्तर के प्रामाणिक कागज-पत्रो को, विशेषकर हाल मे हुई घटनाओ सम्बन्धी, प्रकाशित कर देने मे अधिक उत्साह और तत्परता नही दिखाते तब तक इतिहास लेखक घटना सम्बन्धी विवरण की सम्पूर्ण जानकारी प्रस्तुत ही नही कर सकता। दूसरे, जब तक इतिहास लेखक विदेशी भाषाओ को पढ़ने और समझने मे अपनी भाषा जैसी ही दक्षता नही प्राप्त कर लेते तब तक किसी भी विवादास्पद प्रश्न के सम्बन्ध में उनकी जानकारी अपने पक्ष की अपेक्षा दूसरे पक्ष के सम्बन्ध मे कही कम और अधूरी रहेगी।

· उदाहरणार्थ, अंग्रेज इतिहास लेखको को सामान्यतया जर्मन भाषा की अपेक्षा अंग्रेजी भाषा की कही अच्छी जानकारी होती है और डेनिश भाषा संम्बन्धी उनका ज्ञान जर्मन भाषा से भी कम होता है। ऐसी स्थिति मे डेनिश लोगो की इस शिकायत्त पर कोई आश्चर्य नही होना चाहिए कि १८६३–६४ के श्लेसविग-होल्सटीन संकट सम्बन्धी अंग्रेज इतिहासकारों के विवरण सही नहीं है। इन विवरणो मे पामर्स्टन

की नीति का वर्णन पूरे विस्तार से किया गया है, एशिया और आस्ट्रिया की नीतियों का, कम-से-कम, विवेचन तो किया गया है। परन्तु चूँकि अंग्रेज इतिहास लेखक डेनिश दस्तावेजों की छानबीन नही कर पाये इसलिए उनके पक्ष का उल्लेख ही इन विवरणों में नही हुआ है। इसी प्रकार स्काटलैण्ड के लोग यह कहते दिखाई पड़ते हैं कि यदि अग्रेजी की पुस्तकें तथ्यो की अधिक छानबीन के आधार पर लिखी गयी होती तो उनमे कलोडेन के युद्ध को अग्रेजों की विजय नही बतलाया गया होता और उसका सही वर्णन इस प्रकार होता कि यह ब्रिटन लोगों की ब्रिटन लोगों पर ही विजय थी। अमेरिकनों का कहना है कि प्राय सभी यूरोपियन इतिहास लेखक अमेरिका की औद्योगिक क्रान्ति के प्रारम्भिक तथ्यो के सम्बन्ध में अपने अज्ञान का ही परिचय देते है। जर्मन लोग विदेशी इतिहासकारो से कह रहे हैं कि अलसेस प्रदेश को स्वभावतया फ्रास का बतलाने के पहले वहाँ की संस्कृति और आबादी सम्बन्धी आकडों का और सूक्ष्म एव गम्भीर अध्ययन की कृपा कीजिए। इसी प्रकार हालैण्ड शिकायत कर रहा है कि केप कालोनी पर अधिकार सम्बन्धी ब्रिटिश विवरणो मे इस प्रदेश पर डच अधिकार बने रहने के समर्थक और अनुकूल तथ्यो की उपेक्षा की जाती रही है। इस प्रकार की शिकायत के निश्चित और विशिष्ट दृष्टान्तों के अतिरिक्त यह सभावना तो है ही कि शोध के परिणामस्वरूप ऐसे अज्ञात तथ्यो का पता चल सकता है कि जिनके आधार पर हमारी अब तक स्वीकृत मान्यताएँ और धारणाएँ एकदम मिथ्या सिद्ध हो जायँ।

स्वाभाविक यही होगा कि हम एक-दूसरे के इतिहास सम्बन्धी पारस्परिक विरोधी धारणाओं का विवेचन अग्रेज और जर्मन अध्यापको को लेकर प्रारम्भ करे। एक तो इसलिए कि ये दोनो देश इतने लम्बे समय तक एक-दूसरे से सघर्ष करते रहे है और दूसरे इसलिए भी अग्रेजी और जर्मन भाषा की पाठ्य पुस्तकों की आलोचना सामग्री अन्य भाषाओ की पाठ्य-पुस्तको की अपेक्षा अधिक मात्रा में उपलब्ध है। ब्रन्सविक की इन्टरनेशनल स्कूल बुक इस्टीट्यूट नामक नयी सस्था पिछले कुछ वर्षों मे ससार भर के २० या उससे अधिक देशो से पाठ्य पुस्तकों और उनकी आलोचनाओं का आदान-प्रदान करती रही है और इस काम मे जर्मनों से सहयोग करने वाला सबसे पहला देश इंग्लैंड ही था। दोनों देशो ने एक-दूसरे की ३० या ४० पाठ्य पुस्तकों का परीक्षण किया है और ये सब आलोचनाएँ इस

इंस्टीटधूट के प्रकाशन 'इन्टरनेशनल इयर बुक आफ हिस्ट्री टीचिंग' में छापी गयी हैं। इसके परिणामस्वरूप अब जर्मन या अंग्रेज इतिहास अध्यापकों को यह कहने की कोई गुजाइश नही रह गयी है कि वे दूसरे के प्रति अपने विचार निश्चित नही कर सके है।

जाँच के परिणामस्वरूप इन दोनो देशो में से जर्मन लोग अपेक्षाकृत अधिक श्रेष्ठ सिद्ध हुए हैं। जिन लोगो ने नाज़ी समय की या उससे भी पहले की जर्मन पाठ्य पुस्तकें पढी होंगी उन्हें इस कथन पर आश्चर्य ही होगा। परन्तु इस श्रेष्ठता का एक प्रबल कारण मौजूद है। ऐसा नही है कि जर्मन लोगों मे पक्षपात और पूर्वाग्रह की भावना ब्रिटिश लोगो की अपेक्षा कम व्याप्त हो। परन्तु जर्मनी मे सन् १९४५ में इतिहास की जितनी भी पाठ्य पुस्तके प्रचलित थी वे सब नाजी शिक्षा साहित्य के विरुद्ध मित्र राष्ट्रो के व्यापक विनाश यज्ञ में भस्म कर दी गयी। नाज़ी शासन काल के प्रचारवादी इतिहास ग्रन्थो का नाम निशान तक मिटा देने पर मित्र राष्ट्र कटिबद्ध हो गये। परिणामतः जर्मनी पर मित्रराष्ट्रों का अधिकार होने पर जर्मन विद्यार्थियो और शिक्षको को इतिहास की पाठ्य पुस्तकें उपलब्ध ही नही थी। जर्मन लोगो ने अपनी इतिहास पुस्तकें लिखने का काम नये सिरे से प्रारम्भ किया जिन्हे लिखते समय लेखको के ध्यान में नाजीवाद के पतन की विभीषिका सजीव थी। फिर, जितनी भी नयी पुस्तकें लिखी गयी उनकी काट-छाँट और स्वीकृति मित्र राष्ट्रो के अधिकारियो द्वारा होनी आवश्यक थी। फलत' प्रत्येक जर्मन लेखक और पुस्तक प्रकाशक भलीभाँति जानता था कि नाज़ी विचारों का पूर्ण बहिष्कार किये बिना उनकी पुस्तक प्रकाशन के लिए स्वीकृत ही न हो पायेगी। उन्ही लेखको की पुस्तकें अधिकारी सत्ता द्वारा स्वीकृत हो सकती थी जो जनसत्तात्मक सिद्धान्तो की आस्था के आधार पर पुस्तक-रचना कर सकते थे। अधिनायकवादी विचारो में निष्ठा रखने वाले लेखको की लेखनी रुक गयी और उदार विचार वाले शिक्षको का इस क्षेत्र में एकाधिकार हो गया। फलत. जर्मनी के पश्चिमी और पूर्वी दोनो भागो में नयी इतिहास पुस्तकें मित्र राष्ट्रो की इस विषय की मान्यताओ के अनुरूप ही तैयार की गयी।

ऐसी स्थिति में यह अनिवार्य ही था कि जब अंग्रेजी और जर्मनी की पाठ्य-पुस्तकों का पारस्परिक आलोचना हेतु आदान-प्रदान हुआ तो अंग्रेज आलोचको

को जर्मन पुस्तकों में पक्षपात सम्बन्धी शिकायत का कोई कारण ही नहीं दिखाई पड़ा। दूसरी ओर जर्मन आलोचकों के सामने अंग्रेजी की वे पाठ्य पुस्तकें आयीं जो १९३९–४५ के महायुद्ध के पहले प्रकाशित हो चुकी थीं। इनमें से अधिकांश १९३० के बाद की लिखी हुई थी जब कि इंग्लैंड में जर्मनी विरोधी भावना चरम अवस्था पर थी। फलतः अंग्रेजी की पुस्तकों में जर्मनी के विरुद्ध पक्षपात के दृष्टान्त जर्मन आलोचकों को सहज ही उपलब्ध हो गये। दूसरी ओर जर्मन पुस्तको में अंग्रेज आलोचक भ्रान्त भावना या गलत बयानी के भूले-भटके उदाहरण ही दिखला पाये। वस्तुतः जर्मन पुस्तकों की आलोचना करते हुए अंग्रेज आलोचक कभी-कभी उनकी तटस्थ और पक्षपात रहित भावना की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि 'उनमें बच्चों में अंग्रेज विरोधी भावना के प्रोत्साहन की गन्ध भी नही मिलती और अंग्रेजियत के उग्र समर्थक को भी आपत्ति की कोई बात न मिलेगी।' एक अन्य अंग्रेज आलोचक का कहना है कि 'यदि आलोच्य पुस्तक को हम वर्तमान जर्मन पाठ्य पुस्तकों का प्रतिनिधि प्रकाशन मान लें तो पूरे विश्वास के साथ हम कह सकते हैं कि इन्हें पढ़ने वाले विद्यार्थी यदि भविष्य में किसी भ्रान्ति के समर्थक बन जायँ तो इसके लिए स्कूलो की इतिहास पाठ्य पुस्तकें दोषी नही ठहरायी जा सकती।'

फिर भी समस्त जर्मन लोग, उग्र नाजी आस्थावालों से लेकर घोर कम्यनिस्ट विचार रखने वाले तक, कुछ ऐसे ऐतिहासिक विश्वासों को दृढतापूर्वक अपनाये हुए हैं जिन्हें बहुत-से अंग्रेज स्वीकार नही कर सकते। और इतिहास सम्बन्धी यह मान्यताएँ नयी पाठ्य पुस्तकों में भी स्थान पा चुकी है। इनमें से कुछ तो दोनों विश्व-महायुद्धों और उनके कारणों के सम्बन्ध में ही है। जर्मनी का कोई भी इतिहास लेखक यह स्वीकार करने को कदापि तैयार नही है कि इनमें से किसी भी महायुद्ध की एकमात्र जिम्मेदारी जर्मनी की ही है। (थ्यूसीडीज से लेकर टायनबी तक, इतिहास लेखन की परम्परा में क्या एक भी ऐसे बड़े लेखक का नाम हम बतला सकते हैं जिसने किसी बड़े युद्ध के लिए अपने देश के लोगों को जिम्मेदार ठहराया हो) जनसत्तात्मक विचारों वाले जर्मन लोग भी यही मानते हैं कि उनके देश के शत्रु भी, कम-से-कम कुछ हद तक, इन महायुद्धों के लिए जिम्मेदार थे। अतः अंग्रेज आलोचकों को जर्मन पाठ्य पुस्तकों के सम्बन्ध में यह शिकायत है कि १९१४

या १९३९ के महायुद्धो को बचाने के लिए ब्रिटेन द्वारा किये गये प्रयत्नों का बहुत कम उल्लेख इनमें किया गया है। १८३९ की बेल्जियम की तटस्थता सन्धि की उपेक्षा की प्रवृत्ति इन पाठ्य पुस्तकों मे दिखाई देती है, जब कि इसी के कारण ब्रिटेन को अगस्त १९१४ में महायुद्ध मे कूदना पड़ा। (प्रसगवश यह उल्लेख भी आवश्यक है कि ब्रिटेन मे भी किये गये हाल के शोध से भी यह प्रकट होता है कि जर्मन चान्सलर इस सन्धि को 'रद्दी कागज का टुकडा' भला कह ही कैसे सकते थे।) हवाई युद्ध के वर्णन मे जर्मन लेखक अपने देश के नगरो पर हुई बमवर्षा का उल्लेख बडे विस्तार से करते है और लन्दन या कवेंट्री पर हुई बमवर्षा का अति सक्षिप्त (कभी-कभी एकदम ही नही) परिचय देते हैं। १९४५ के बाद से अभी तक कोई शान्ति समझौता हुआ ही नही है जिसके सम्बन्ध मे जर्मन लोगो को अपना विरोधी मत प्रकट करने की नौबत आवे। परन्तु १९१९ की वर्साई की सन्धि को नाजियो की भाँति 'डिक्टाट' की सज्ञा न देते हुए भी वे उसका एकतर्फा वर्णन करते है और वे विल्सन के १४ सूत्रो के सम्बन्ध मे मित्र राष्ट्रो की शर्तो का उल्लेख किये बिना इस बात को ही महत्त्व देते है कि मित्र राष्ट्रो ने विल्सन के सूत्र स्वीकार कर लिये।

इससे और पहले के काल सम्बन्धी कुछ जर्मन पुस्तको को अंग्रेज आलोचको ने सतोषजनक नही पाया। सभी देशो के लोगो के समान जर्मन लोगो को भी अपनी महत्ता के सम्बन्ध मे कुछ मुगालता रहता है,ऐसा विदेशियो को दिखाई देता है। इसके परिणाम का एक उदाहरण यह है कि जर्मन लोग यूरोपियन समाज के निर्माण मे जर्मनवाद को ईसाई और हेलेनी (ग्रीक) परम्पराओ-जैसा ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं। वे अठारहवी और उन्नीसवी शताब्दी के जर्मन कृषि विकास को खेती सम्बन्धी क्रान्ति का अग्रदूत मानते दिखाई पडते है। ब्रिटिश साम्राज्य-वाद के आर्थिक और सैनिक पक्ष को बहुत बढा-चढा कर बतलाया जाता है और प्रारम्भिक उपनिवेशो की स्थापना मे धर्म के महत्त्व के प्रति बहुत कम ध्यान दिया जाता है। इसी प्रकार, १८३३ मे ब्रिटिश साम्राज्य मे दासता प्रथा की समाप्ति को कभी-कभी आर्थिक लाभ से प्रेरित बतलाया जाता है, जब कि प्रत्येक अंग्रेज जानता है कि इस काम का बहुत कुछ श्रेय अंग्रेजो की दानशील भावना को है। और कम-से-कम एक जर्मन पुस्तक ने तो डच लोगो की इस व्यापक मान्यता का

समर्थन किया है कि १८१५ में हालैंड पर 'डाका डाल कर' केप कालोनी को हडप लिया गया ।

यह बात शायद सही है कि जर्मनी पर मित्र राष्ट्रो का अधिकार ढीला पडने के बाद से उन 'राष्ट्रीय' विचारों का किसी हद तक पुन. उभार हुआ है जो नाजी जमाने के भी पहले वहाँ व्याप्त थे । दस वर्ष या इससे भी अधिक समय तक अति निष्क्रिय सहनशीलता व्याप्त रहने के बाद कुछ पुस्तकों द्वारा विशिष्ट 'जर्मन' विचारो को उभारा गया है । व्याप्त वातावरण के अनुरूप प्रचलित मान्यताओ की झलक पाठ्य पुस्तको मे मिलना और उनके द्वारा ऐसे विचारो को बढावा दिया जाना स्वाभाविक ही है । जो जर्मनी पार्लियामेन्टरी पद्धति और अन्तर्राष्ट्रीय भावना की ओर बढने को सचेष्ट है उसमे लिखी गयी इतिहास की पाठ्य पुस्तको मे अन्तर्राष्ट्रीय तथा पार्लियामेन्टरी जनसत्तात्मक विचारो का प्रभाव दिखाई ही पडेगा । और अब जब कि राजनीति तथा सस्कृति सम्बन्धी पुराने विचारों का फिर से उभार हो रहा है तो कुछ इतिहास पुस्तको मे ऐसे विचार प्रतिबिम्बित होने लगे है । यह कोई 'दोष' की बात नही है । ब्रिटिश, अमेरिकन या रूसी लोगो के समान ही जर्मन लोग भी अपनी परम्परागत भावनाओ एव विचारो पर आस्था रखने और अपने बच्चो को उनकी शिक्षा देने के हकदार है ही । अत हमे इस बात पर आश्चर्य नही होना चाहिए कि एक-दो अग्रेज आलोचको को कितनी ही जर्मन पुस्तकों मे न केवल नाजी काल मे प्रचलित बल्कि अर्ध-जनसत्तात्मक वीयर रिपब्लिक समय के विचारो और प्रवृत्तियो की झलक दिखाई दी है । एक पुस्तक को, उसके अग्रेज आलोचक ने, विशेष रूप से दोषी ठहराते हुए कहा है कि उसमें 'सैनिक इतिहास की ओर बढा-चढा कर ध्यान दिलाया गया है और उसके दृष्टान्तो का चुनाव खास उद्देश्य से किया गया है । इसमे जर्मनो पर हुई बमवर्षा और अत्याचारो तथा उनके विस्थापन और निष्कासन का तो बहुत राग अलापा गया है परन्तु जर्मनों द्वारा दूसरों के विरुद्ध किये गये ऐसे ही कारनामो की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है । लेखक ने रूसी शासन व्यवस्था का विवरण एकागी और एकदम नकारात्मक ढग से दिया है । दूसरी ओर जर्मनी की नेशनल सोशलिस्ट व्यवस्था की विशिष्टताओं का बखान का प्रयत्न निरन्तर दिखाई देता है ।' और अन्त में आलोचक ने इस पुस्तक के उतरार्ध की सरसरी तौर से निन्दा करते हुए कहा है कि 'यह

इतिहास लेखन तथा फेडरल जर्मन रिपब्लिक के लिए कलकस्वरूप है और दुर्भाग्यवश जो स्कूली विद्यार्थी इस पुस्तक के लेखक द्वारा प्रसारित भावनाओं मे पनपेंगे उनके विचार दूषित हुए बिना नही रहेंगे ।'

यह उल्लेखनीय है कि अभी तक इतनी कडी भर्त्सना केवल इसी एक जर्मन पुस्तक की हुई है । और इसके उत्तर में पुस्तक लेखक बड़ी आसानी से कितने ही तर्क दे सकता है । वह कह सकता है कि सैनिक पहलुओ को महत्त्व दिये बिना जर्मन इतिहास का तटस्थ वर्णन सम्भव ही नही हो सकता, या लेखक वास्तव मे विश्वास करता है कि मित्र राष्ट्रों के प्रचार ने जर्मन अत्याचारों का अत्यन्त अतिरंजित रूप प्रस्तुत किया, या उसकी सम्मति में कम्यूनिस्ट रूस के कारनामे नाजी जर्मनी के कार्यों से कही अधिक जघन्य है, या यह कि लेखक और उसके देशवासी जर्मन वीयर रिपब्लिक के शासन काल की तुलना में हिटलरी शासन के अन्तर्गत गरीबी से कम त्रस्त थे । फिर भी अंग्रेज आलोचक की यह सम्मति एक निश्चित प्रवृत्ति की ओर सकेत करती है । सम्भवत. सन् १९४५ के बाद लिखी गयी जर्मन पाठ्य पुस्तको में जो जनसत्तात्मक और अन्तर्राष्ट्रीय भावना व्याप्त दिखाई देती है वह वास्तव में जर्मनी की सामूहिक भावना की सच्ची परिचायक नही है । इस प्रश्न का सही उत्तर काफी समय बाद ही मिलना सम्भव होगा ।

अंग्रेजी की किसी भी पुस्तक की ऐसी निन्दात्मक आलोचना नही दिखाई पड़ी है । दूसरी ओर किसी भी अंग्रेजी की पुस्तक की जर्मन आलोचकों ने वैसी हार्दिक प्रशंसा नही की है जैसी कि अधिकाश जर्मन पुस्तको को अंग्रेज आलोचको से प्राप्त हुई है । अंग्रेजी की किसी भी पुस्तक के सम्बन्ध में यह नही कहा गया है कि वह जर्मनी के 'अत्यन्त सजग वर्ग को भी असन्तुष्ट करने वाले विचारो' से सर्वथा युक्त है । इसके विपरीत जर्मन आलोचको को अंग्रेजी की सभी पुस्तकों के सम्बन्ध में यह शिकायत है कि उनमें ऐसे विचारों का प्रभाव है जो अब तक तिरस्कार योग्य समझे जाने चाहिए थे । इनमें से कुछ का सम्बन्ध ब्यौरे के विस्तार से है । उदाहरण के लिए वे पहले की तरह अब भी कहते है कि अंग्रेजी की पुस्तकों में वाटरलू के युद्ध की विजय का श्रेय ब्लूचर को बहुत कम और वेलिंगटन को बहुत अधिक दिया जाता है, एलसेस में जर्मनो की संख्या घटाकर बतलायी जाती है और पवित्र रोमन साम्राज्य में जर्मन विशेषताओं का महत्त्व कम किया जाता है । अंग्रेजी

पुस्तकों में आस्ट्रिया के बारे में (विशेषकर १९वीं शताब्दी के सम्बन्ध में) ऐसा रुख रखा जाता है मानों वह जर्मनी का अंग ही न हो, उसे जर्मनी का सबसे महत्त्व-पूर्ण हिस्सा नहीं माना जाता। इसी प्रकार बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें अंग्रेजी पाठ्य पुस्तकों में उपेक्षित रहती हैं। उनमें जर्मनी की पूर्वी सरहद के लिए स्थायी रूप से उपस्थित स्लाव खतरे का कोई जिक्र ही नही रहता और न उनमें फ्रेडरिक महान् या बिस्मार्क द्वारा किये गये घरेलू सुधारों का ही कोई उल्लेख रहता है (फ्रेंच लोगों को यही शिकायत नेपोलियन के विवरणों के सम्बन्ध में अंग्रेजी पाठ्य-पुस्तको के बारे में रहती है)। एक अंग्रेजी पुस्तक में (जो उचित रूप से लोकप्रिय है) 'रिफार्मेशन' का वर्णन करते समय लूथर या कालविन का कोई उल्लेख ही नही किया गया है। जर्मन आलोचकों ने अंग्रेजी की पाठ्य पुस्तको मे समान रूप से यह कमी पायी है कि उनमे स्वाधीनता के सम्बन्ध में किये गये सभी मुख्य जर्मन आन्दोलनो के प्रति पर्याप्त ध्यान नही दिया गया है। उनका कहना है कि जर्मनी मे स्वाधीनता की भावना सदैव प्रबल रही है यद्यपि इतिहास के संयोग से बहुधा यह धारा कुंठित हो कर रह गयी। लूथर, लेसिंग, कान्ट, गेटे, शिलर, फिच,हम्बोल्ट, ग्रिम्स, मोम्मस्सेन और मान इन सब की रचनाओं में स्वाधीनता की भावना निरन्तर व्याप्त है। और जब कि इन सभी लेखकों की रचनाओं के सम्बन्ध मे जर्मन युवकों को शिक्षा दी जाती है, विदेशो के युवकों को इनके सम्बन्ध में शायद ही कभी परिचित कराया जाता हो।

यह इस बात का एक और सबूत है कि पाठ्य पुस्तको के लेखक बहुधा अचेतन विचारो से प्रभावित रहते है। बीसवी शताब्दी के मध्यकाल के अंग्रेजी पाठ्य-पुस्तक लेखक ऐसे वातावरण मे पले-पोसे और बड़े हुए है जिसमें यह बात स्वय-सिद्ध रूप में मान ली गयी थी कि जर्मनी स्वाधीनता के विरुद्ध है और अपनी इस धारणा को वे जर्मनी के अतीत के सम्बन्ध मे भी लागू कर लेते हैं। निस्सन्देह प्राचीन काल मे जर्मनी में बहुत हिंसा और अत्याचार हुए हैं। ब्रिटिश पुस्तक लेखक इसकी उपेक्षा तो नही करते परन्तु वे उस भाव की उपेक्षा करते हैं जिसे एक जर्मन पुस्तक में (अमेरिका के एक विश्वविद्यालय के प्रोफेसर की लिखी हुई) 'जर्मनी की विस्मृत स्वाधीनता' कहा गया है। अठारहवी और उन्नीसवी शताब्दियों मे जर्मनी में स्वाधीनता की प्रेरणा विशेष रूप से सक्रिय थी। यह प्रेरणा साहित्य में विशेष

रूप से दिखाई देती है परन्तु राजनीति मे भी वह दिखाई देती है जैसे १८३० और १८४८ मे नेपोलियन के विरुद्ध युक्ति युद्ध में, विलियम द्वितीय और बिस्मार्क का विरोध करने वाले राजनीतिक दलो मे और वीयर रिपब्लिक के समय मे। फिर भी अंग्रेजी पाठ्य पुस्तको में इन सब स्वाधीनता आन्दोलनो के बारे मे तो इधर-उधर बिखरा हुआ एक वाक्य भी नही दिखाई देता और दूसरी ओर वे विषयान्तर करके भी बिस्मार्क की आलोचना करते हुए उनकी दुर्भाग्यपूर्ण उक्ति 'रक्त और हथियार' का उल्लेख अवश्य करेंगे—जैसे कि हथियार और रक्तपात केवल जर्मन युद्धो की ही विशेषता रही है, अन्य किसी युद्ध की नही। एक जर्मन आलोचक उलाहना देते हुए पूछता है कि 'सम्पूर्ण इतिहास मे क्या ऐसा एक भी दृष्टान्त है जहाँ साम्राज्य की स्थापना शक्ति प्रयोग के बिना की गयी हो।' एक अन्य अंग्रेजी पुस्तक की आलोचना करते हुए कहा गया है कि 'लेखक ने उन्नीसवी और बीसवी शताब्दी मे जर्मन इतिहास की प्रगति पर केवल एक ही दृष्टिकोण से विचार किया है अर्थात् समूचे संसार पर जर्मन प्रभुता की स्थापना।' इस आलोचना के उत्तर में कोई अंग्रेज यदि यह कहे कि यही तो जर्मन इतिहास का सच्चा चित्र है तो उससे आश्चर्यचकित होकर जर्मन लोग ब्रिटिश और जर्मन साम्राज्य के विस्तार के नक्शे प्रस्तुत कर देंगे। फिर, पामर्सटन और बिस्मार्क के जमाने के सम्बन्ध में अंग्रेज लेखक दोनो को एक-जैसे तराजू पर न तौल कर एक की प्रशस्ति और दूसरे की निन्दा की प्रवृत्ति अपनाते है। एक ही अंग्रेजी पुस्तक के दो संक्षिप्त उद्धरण देकर हम दोनो के व्यतिरेक की विवेचना करते है। यथा 'बिस्मार्क ने अपने ही ढग से जर्मनी की स्थिति दृढ करने का प्रयत्न किया। उन्होने केवल जर्मनी के लाभ के लिए मानव स्वभाव की हीन भावनाओ को उभाड कर लाभ उठाया।' और दूसरी ओर कहा गया है कि १९१४ मे ब्रिटिश लोग 'दूसरो की ईमानदारी और दया की सहज भावना मे स्वाभाविक विश्वास करके धोखा खाया और जब युद्ध का महान् सकट उपस्थित हुआ तो एस्क्विथ और ग्रे स्तम्भित किन्तु एक निष्ठा से प्रेरित ब्रिटिश राष्ट्र का शुद्ध हृदय और नैतिक निष्ठा के साथ नेतृत्व करने में सफल हुए। आज इस प्रकार का विवरण पढ कर सामान्य अंग्रेज मुस्करा देता है परन्तु जर्मनी का सामान्य नागरिक यह सोचकर विस्मय से रो पड़ता है कि १९१४ के ४० वर्ष बाद भी ऐसे विचार अंग्रेजी पुस्तकों मे अंकित किये जाते है।

अंग्रेजी पुस्तकों में महायुद्धों और उनके कारणों के वर्णन सम्बन्धी जर्मन आलोचनाओं से युद्ध अपराध की जिम्मेदारियों के बारे में इन दोनों देशों के दृष्टि-कोणों में मौलिक अन्तर दिखाई देता है। यह सही है कि १९१४ और १९३९ के दोनों महायुद्धो मे ब्रिटेन ने ही जर्मनी के विरुद्ध युद्ध-घोषणा की थी,जर्मनी ने ब्रिटेन के विरुद्ध नही। इसका कारण बहुत सरल और स्पष्ट है। जर्मनी ने पहले आक्रामक कार्रवाई की और तब उसकी अनिवार्य प्रतिक्रिया के रूप में ब्रिटेन ने उसके विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। परन्तु जर्मनी की ओर से इसका प्रत्युत्तर भी उतना ही स्वाभाविक और सरल है। उनका पक्ष यह है कि जर्मनी स्वभावतया महान् राष्ट्रो मे महत्तम होने की दिशा में आगे बढ़ना चाहता था और पश्चिमी यूरोप ने उसकी इस प्रगति मे बाधा डालनी चाही जिससे जर्मनी को मजबूर होकर आक्रामक रूप धारण करना पड़ा। इस प्रकार के तर्क-वितर्क के सहारे परस्पर दोषारोपण होता रहता है और (जर्मन आलोचको का कहना है) अंग्रेजी पाठ्य-पुस्तको में अपने देश की कठिनाइयों का विवरण बढा-चढ़ाकर किया जाता है तथा जर्मनी की कठिनाइयो का वर्णन घटाकर किया जाता है।

इसी प्रकार यह आरोप भी किया जाता है कि १९१४ के महायुद्ध के पहले राष्ट्रो की गुटबन्दी के सम्बन्ध में अंग्रेजी पुस्तको में बौद्धिक शिथिलता दिखाई देती है। जर्मनो को ऐसा लगता है कि राष्ट्रो की प्रारम्भिक कूटनीति सम्बन्धी ब्रिटिश विवरणों मे बहुत-सी बातें स्वत सिद्ध रूप में स्वीकार कर ली गयी है—ऐसा जान पडता है कि वे शुरू से ही यह मान कर चलते हैं कि ब्रिटेन और जर्मनी का संघर्ष तो अनिवार्य और अवश्यम्भावी ही था। जर्मन आलोचकों का कहना है कि जब जर्मनी ने एक महान् राष्ट्र के रूप मे अपना विकास प्रारम्भ किया था उस समय इग्लैण्ड और फ्रास के सम्बन्ध घनिष्ठ मित्रों-जैसे नही थे। इसके विपरीत भूमध्यसागर तथा अन्य क्षेत्रो में फ्रास और ब्रिटेन परस्पर कट्टर दुश्मन थे तथा दूसरी ओर ब्रिटेन में जर्मनी के समर्थन की भावना बहुत मात्रा में व्याप्त थी। रानी विक्टोरिया का विवाह एक जर्मन के साथ हुआ, कैसर की माता अंग्रेज घराने की थी, रोड्स ने अपनी छात्रवृत्तियाँ जर्मनो के साथ ही अंग्रेज और अमेरिकन लोगों के लिए भी प्रदान की; इत्यादि। शताब्दी की समाप्ति पर यह प्रयत्न भी दिखाई दिया कि फ्रांस और रूस के विरुद्ध इग्लैण्ड और जर्मनी में सन्धि स्थापित

हो। फिर भी अंग्रेजी पाठ्य पुस्तकों में इन बातों का शायद ही उल्लेख किया जाता हो। कारण यह कि ब्रिटिश नीति में मौलिक परिवर्तन हो गया जिसके परिणामस्वरूप १९०४ में इंग्लैण्ड और फ्रांस के बीच समझौता हो गया और इससे भी अधिक आश्चर्यजनक बात यह हुई कि तीन वर्ष बाद इंग्लैण्ड और रूस के बीच मित्रता स्थापित हुई। जर्मनों का कहना है कि विलियम द्वितीय के सम्बन्ध में भी निरन्तर गलतबयानी की जाती है। वह इंग्लैण्ड से मित्रता करने के पक्ष में था और उसने १८९८ के हेग सम्मेलन में निरस्त्रीकरण प्रस्तावों को विफल नही किया। इन प्रस्तावों के सम्बन्ध में जो बातें अन्य राष्ट्र निजी रूप में कह रहे थे उन्हें विलियम ने सार्वजनिक रूप से कह दिया। सन् १९०६ और १९११ में जब मोरक्को के सम्बन्ध में फ्रास के साथ संकट उपस्थित हुआ तो उसने शान्ति बनाये रखने के लिए अथक प्रयत्न किया। और जब उसकी इच्छा के विपरीत १९१४ में युद्ध हो ही गया तो उसने युद्ध के परिणाम के सम्बन्ध मे अपने सैनिक जनरलो को चेतावनी दी। प्रतिकूल परिस्थितियो में पले हुए ब्रिटिश लोगों को जर्मन पक्ष की इन मान्यताओ मे से कुछ के सम्बन्ध में घोर आश्चर्य होगा। इनकी वास्तविकता का पता तो तभी लगेगा जब इनके सम्बन्ध मे समस्त अभिलेख उपलब्ध हो जायँ और उनकी आवश्यक छानबीन पूरी हो जाय। तब तक जर्मन और ब्रिटिश लोग यदि एक दूसरे के विरुद्ध लगाये गये आरोपों को अप्रमाणित मानते रहे तो उनका कोई बहुत अनर्थ नहीं होगा।

आगे की पीढ़ी अधिक अच्छी जानकारी के आधार पर क्या निर्णय करेगी इसका अनुमान लगाने का कम-से-कम एक प्रयत्न इधर किया गया है। १९४५ के बाद जर्मनी पर अधिकार हो जाने के समय ब्रिटिश विदेश विभाग को इस बात की चिन्ता हुई कि समय की अनुकूलता से लाभ उठा कर जर्मनी में ब्रिटिश पक्ष प्रस्तुत किया जाय। अतः उसने अन्य बातो के अतिरिक्त अग्रेज और जर्मन शिक्षको की संयुक्त कानफरेंसो का सुझाव अग्रसर किया। जर्मनी ने ऐसी कानफरेंसों का स्वागत किया क्योंकि वे भी ब्रिटेन के लोगों तक अपने विचार पहुँचाने को उत्सुक थे। ऐसी कई बैठकें आयोजित हुईं जिनमें ब्रिटिश और जर्मन शिक्षकों ने साथ-साथ बैठकर खुले तौर से विचार-विनिमय किया। इनमें से कई बैठकों का नतीजा यह निकलता पूर्व आशंका के प्रतिकूल दोनो पक्षों में विचारों का अन्तर बहुत कम

था। अतः दो बार (१९५० में और १९५५ में) ऐसी बैठकों में प्रथम विश्व महायुद्ध के कारणों के ऐसे विवरण तैयार किये गये जिन्हें स्वीकार करने में दोनों पक्षो को कोई आपत्ति नही दिखाई दी। विवरण के ये दोनों आलेख्य अब इंग्लैंड और जर्मनी में भी प्रकाशित हो चुके हैं। पहला आलेख्य मुख्यतया स्कूलों के शिक्षकों का तैयार किया हुआ था और वह स्कूली पाठ्य पुस्तकों के प्रारम्भिक ज्ञान के दायरे तक सीमित रखा गया। दूसरा आलेख्य अधिकाशतः विश्वविद्या- लयों के अध्यापकों ने अधिक उच्च कोटि की पाठ्य पुस्तकों के लेखकों के मार्ग दर्शन के उद्देश्य से बनाया गया। इंग्लैंड और जर्मनी दोनों ही देशों में आलोचकों ने इन आलेख्यों का काफी विरोध किया। अपनी पहले से ही निश्चित धारणाओ की कट्टरता का परित्याग करना इन आलोचको के लिए कठिन था। फिर भी इन आलेख्यो द्वारा प्रथम विश्व महायुद्ध के कारणों के सम्बन्ध में स्कूली बच्चों और विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियो को सरल ढंग से सच्चाई से परिचित कराने के लिए पाठ्य पुस्तकों के लेखकों का मार्ग दर्शन करने के प्रयत्न ईमानदारी के साथ किये गये। परस्पर विरोधी भावों और तथ्य-अतथ्य के विवादो के भ्रमजाल से बचकर सत्य का निरूपण आखिर कितना खतरनाक काम है। जब तक विभिन्न देशो के अभिलेखा विशेषज्ञ एक-दूसरे का खण्डन समाप्त कर के एकमत न हो जायँ तब तक क्या उन विषयो के सम्बन्ध में युवको को एकदम अपरिचित और अज्ञानी तो नही ही रखा जा सकता।

× × ×

परन्तु यह स्पष्ट ही है कि इतिहास पुस्तकों में पूर्वाग्रह की व्याधि का सम्बन्ध नयी खोज और अनुसधान से बिलकुल नही है। ऐसा नहीं है कि जिन बातों की जानकारी केवल विद्वानो और विशेषज्ञो तक ही सीमित है उनके सम्बन्ध में इतिहास-कार गलती करते हो। वास्तव में वे गलती उन बातो के सम्बन्ध मे करते हैं जो एकदम प्रारम्भिक है और जो बच्चों को भी बतलायी जा चुकी हैं। उदाहरण के लिए जो बात रूस का बच्चा-बच्चा जानता है उससे इंग्लैंड के इतिहासकार अपरिचित दिखाई देते है। रूस में हर बच्चा जानता है कि इवान चतुर्थ को 'टेरिबिल' (कराल) नहीं बल्कि 'ग्रोजनी' कहा जाता था जिसका भाव यह नहीं है कि वह इंग्लैंड की अपनी समकालीन ब्लडी मेरी से भी अधिक क्रूर था। रूसी लोग १९१७ के पहले तक ईश्वर को 'ग्रोजनी' के विशेषण से सम्बोधित करते थे

और चूँकि रूसी अपने जार में ईश्वर का अंश मानते थे इसलिए उसे भी 'ग्रोजनी' कहकर उसमें दैवी प्रभुता के आतंक का भाव व्यक्त करते थे। इसी प्रकार हर अंग्रेज बच्चा जानता है कि डिकेन्स के उपन्यास आधुनिक ब्रिटेन की आर्थिक अवस्था का सही परिचय नहीं देते,परन्तु रूस के इतिहासकार इस तथ्य से सर्वथा अपरिचित हैं। प्रत्येक अंग्रेजी-भाषी मुसलमान जानता है कि 'मोहमटन' शब्द (चाहे वह किसी वर्तनी से लिखा जाय) का इस्तेमाल करना ईश्वर के एक होने—एकेश्वरवाद—को अस्वीकार करना है, परन्तु ईसाई इतिहासकार इस बात से सर्वथा अनभिज्ञ है। दूसरी ओर प्रत्येक ईसाई बच्चे को सिखाया जाता है कि यद्यपि ईश्वर की कल्पना पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा की त्रिधा भावना में की गयी है परन्तु वे तीन न होकर वास्तव में एक ही ईश्वर को व्यक्त करते हैं; किन्तु मुसलमान इतिहासकार इस तथ्य को हृदयगम ही नहीं कर पाते। जिस गम्भीरता या लाक्षणिकता के साथ मुसलमान कुरान में आस्था रखते हैं उसी प्रकार की आस्था 'बुक आफ रेवेलेशन' (ईसाई धर्म पुस्तक) में रखने वाले लोग मुसलमानो पर इन्द्रियसुख भोगी और विलासपूर्ण बहिश्त की भावना का आरोप लगाते हैं। गैर-ब्रिटिश इतिहासकार इस बात को समझ ही नही पाते कि पिछले काल मे ब्रिटिश जलसेना के विशाल होने का कारण दूसरो पर अपनी प्रभुता जगाना न होकर वास्तव में अपने असतुलित आर्थिक व्यवस्था वाले टापू देश की सुरक्षात्मक आवश्यकता थी। प्रत्येक पढा-लिखा रूसी जानता है कि उसके बन्दरगाह अतीत काल से ही कितने भूमि सकुचित रहे है, परन्तु पश्चिमी यूरोप के इतिहासकार इस तथ्य को समझ ही नही पाते। फ्रेंच इतिहासकार इस बात से एकदम अपरिचित दिखाई देते है कि सम्पूर्ण जर्मन इतिहास राइन नदी के पार की घटनाओ से उतना नही प्रभावित हुआ है जितना कि विस्टुला के पार की घटनाओं से। यूरोपियन इतिहासों में (अधिक उच्च कोटि की पुस्तकों को छोडकर प्राय. सभी मे) अमेरिका को कई संस्कृतियों का देश न मानकर एक ही संस्कृति वाला बतलाया गया है—और कुछ प्रारम्भिक पुस्तकों में तो उसे बिना सस्कृति वाला देश कहा गया है। इसी प्रकार के और कितने ही उदाहरण अनन्त काल तक दिये जा सकते है।

कितने ही अन्य विभिन्न क्षेत्रों के सम्बन्ध में भी यह देखा जाता है कि जो बातें किसी देश में सर्वसाधारण की जानकारी की हैं उनके बारे में बहुत-से देशों

में एकदम अज्ञान व्याप्त है। यह अज्ञान छोटी बातों के सम्बन्ध में है और बड़े प्रश्नों के सम्बन्ध में भी। छोटी बात का उदाहरण है कोपर्निकस का जन्म स्थान। इन्हें जर्मनी और पोलैंड दोनों ही अपना-अपना देशवासी बतलाते है। बड़े प्रश्न के उदाहरणस्वरूप हम विदेशी सस्कृतियों की आधारभूत रूपरेखा की बात ले सकते है। इसका नमूना यह है कि पश्चिमी राष्ट्रों की दृष्टि में चीन में धार्मिक स्वतन्त्रता है ही नही, क्योकि चीनी लोग ईसाई धर्म प्रचारको का स्वागत नही करते। दूसरी ओर चीनियों की मान्यता है कि पश्चिमी देशो मे धार्मिक स्वतन्त्रता का अभाव है क्योंकि पश्चिमी देशो के लोग एक साथ एक से अधिक धर्मों के प्रति आस्थावान् नही होते। अभी कुछ वर्ष पहले कुछ अंग्रेज सैनिको को, जिन्होंने रूसी लड़कियो से वहाँ विवाह कर लिया था,अपने साथ अपनी पत्नियों को स्वदेश लाने पर रोक लगा दी गयी थी। प्रतिबन्ध पर इंग्लैंड की जनता मे रूस के विरुद्ध रोष की लहर फैल गयी थी। उसे भी कम्यूनिस्ट त्रास का एक नया उदाहरण माना गया। परन्तु इंग्लैंड की जनता को यह पता ही नही था कि इस प्रकार के प्रतिबन्ध का कम्यूनिस्ट नीति से कोई सम्बन्ध ही नही है। किसी भी अंग्रेज इतिहासकार ने अपने देशवासियो को यह बतलाने की आवश्यकता नही समझी कि सदियो से रूस की सामाजिक परम्परा अपने देश के बाहर विवाह करके रूस से बाहर जाकर बच्चे पैदा करने के विरुद्ध रही है। कम्यूनिज्म के आचार्य मार्क्स के जन्म के ३०० वर्ष पहले भी रूस में इसी प्रकार का प्रतिबन्ध लगाया गया था जब मास्को स्थित डेनमार्क के राजदूत को (सन् १५१५ में) अपनी रूसी पत्नी को डेनमार्क ले जाना रोक दिया गया था।

इतिहास सम्बन्धी पूर्वाग्रह की भावना कितनी तीव्र होती है उसका यह एक अच्छा नमूना है। यह कहना बहुधा कठिन होता है कि पक्षपात की भावना अज्ञान-जनित संयोग के कारण होती है या इस दुराग्रहपूर्ण हठ के कारण कि हम किसी अरुचिकर बात को जानने से इनकार करते हैं। जब किसी वर्ग विरोध की भावना पहले ही से मौजूद रहती है तो उसके समर्थन की नयी बातें हम प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करते है और अपनी धारणा के विरोधी सबूतों की उपेक्षा करते हैं। हम यही मानना पसन्द करते हैं कि हमारा पक्ष ही सही है और हमारे विरोधी का पक्ष गलत है और इसी भावना के अनुरूप हमारी विश्वास क्षमता को गति मिलती

है । अटलांटिक सभ्यता के देशों के लोगों में एक बँधे ढर्रे पर एकांगी चिन्तन राजनीति के क्षेत्र में विशेष रूप से दिखाई देता है । कारण यह है कि संसार के अन्य भागों की अपेक्षा पश्चिमी संसार के देशों में राजनीतिक जागरूकता कहीं अधिक है । अतः अमेरिका के इतिहास लेखकों के लिए (आज से ५० वर्ष पूर्व पहले तक जब उन्होंने इस काम को स्वय अपने हाथों में लिया) यह स्वाभाविक ही था कि ब्रिटिश इतिहास के विवरणो में ब्रिटेन के प्रति अपनी परम्परागत घृणा उन्हे दिखाई दी—यहाँ तक कि कभी-कभी रूजवेल्ट के सम्बन्ध में कहा जाता है कि द्वितीय विश्व महायुद्ध के अन्तिम चरण में उन्होंने जो ब्रिटिश विरोधी रुख धारण किया उसका कारण अपने छात्र जीवन मे इतिहास की गलत पुस्तको का अध्ययन ही था । इसी प्रकार एल्सास के सम्बन्ध मे फ्रेंच पुस्तको मे तो फ्रांस की संस्कृति के प्रभाव को महत्त्व देने की प्रवृत्ति रहती है और जर्मन पुस्तको में वहाँ जर्मन भाषा तथा राष्ट्रीयता के प्रभाव पर बल दिया जाता प्रकट होता है । ब्रिटिश लोकमत ने १८ वी शताब्दी और नेपोलियन के समय से जिस फ्रास विरोधी भावना को परम्परागत रूप में प्राप्त किया उसका प्रभाव इसमें और पहले के समय के सम्बन्ध मे भी परिलक्षित होता है—उदाहरणार्थ 'सौ वर्ष के युद्ध' के सम्बन्ध में । यह कहना बहुत बेतुका नही होगा कि क्रेसी और अन्य बातो के सम्बन्ध मे अंग्रेज लोग फ्रास पर मूर्खता का जो आरोप करते है वह बहुत अंशों में गिलरे के व्यंग्य विवरणों और फ्रोइसर्ट के आख्यानो से प्रभावित है ।

बहुधा लोग भ्रमवश ऐसा समझते है कि ये दुर्भावपूर्ण धारणाएँ राजनीति या युद्ध के इतिहासो तक ही सीमित है । विज्ञान, सस्कृति—यहाँ तक कि कृषि सम्बन्धी इतिहास के बारे में यह उतनी ही मात्रा में मौजूद हैं । विज्ञान के इतिहास सम्बन्धी अंग्रेजी की छोटी पुस्तको में कहा जाता है कि आक्सिजन का पता सबसे पहले प्रीस्टली ने लगाया, जब कि यूरोप की इस विषय की पुस्तिकाओं में यह श्रेय शीले को दिया जाता है । खेती का इतिहास बतलाते हुए फ्रेंच लोग पहली शताब्दी में प्लिनी के पहिये वाले हल को 'गैलिक' (फ्रेंकेज नही) कहेंगे और जर्मन लेखक उसे 'जर्मेनिश' बतलायेगे (डयूत्श नही) । जर्मन इतिहासों में (तथा कई अन्य देशों में भी) कृषि की सर्वप्रथम वैज्ञानिक संस्था गीसेन स्थित लीबेग नाम से बतलायी जायगी, परन्तु अंग्रेजी इतिहासों में (तथा कुछ अन्य देशों में भी) इसे

राथेयस्टेड स्थित लावेस बतलाया जायगा। आधुनिक काल के विकास कार्य भी इस प्रकार के विरोध से मुक्त नही हैं। परमाणुशोध के विवरण के सम्बन्ध में स्कूली इतिहासों में यही अन्तर मौजूद है। अंग्रेजी की पुस्तकों में इसका श्रेय रदरफोर्ड को दिया जायगा, स्कैन्डिनेविया में यह सेहरा बोर के सर बाँधा जायगा और एक जर्मन-पुस्तक में तो १९३८ की निश्चित तारीख देकर कहा गया है कि हान ने परमाणु विखण्डन किया, उसमें किसी और के नाम का भी उल्लेख नहीं है। परिणामतः समूचे संसार के बच्चे इसी भावना मे पलकर बड़े होते हैं कि अन्य देशों की अपेक्षा उनके ही देशवासियों ने सभ्यता के विकास में सबसे अधिक योगदान किया है। ऐसी सभी बातो के सम्बन्ध मे अभिलेखागारों में सुरक्षित दस्तावेजों को खोजने की कोई आवश्यकता नही है। यदि अपने से भिन्न देशों की प्रचलित और प्रारम्भिक पुस्तको की थोड़ी-सी छानबीन कर ली जाय तो अपने राष्ट्र सम्बन्धी आत्म-सतोष को बरफ के गोले की भाँति लुढकाते हुए निरन्तर बड़ा होने से रोका जा सकता है और सही स्थिति की जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

इसी राष्ट्रीय आत्मसंतोष का आरोप फ्रेंच लोग अंग्रेजों पर लगाते है (जर्मन आलोचक तो अधिकाशतः अग्रेजो को तथ्यों की गलती करने का दोषी मानता है) जर्मन आलोचनाओं की अपेक्षा फ्रेंच आलोचनाएँ, अंग्रेजी की पुस्तकों के सम्बन्ध में कम ही प्रकाशित हुई है। परन्तु उनमें आमतौर से एक जैसी प्रवृत्ति स्पष्ट है। उनके अनुसार अंग्रेजी की पुस्तको में यह दोष है।

सौ वर्ष के युद्ध और स्पेन के उत्तराधिकार सम्बन्धी युद्ध में भी, अंग्रेजी की पुस्तको में ब्रिटेन की सभी विजयो का उल्लेख है और फ्रांस की एक भी जीत का नही (कभी-कभी उस एक फ्रेंच विजय का उल्लेख कर दिया जाता है जो उन्होने स्पेन में इग्लैण्ड के एक राजा के जारज पुत्र के नेतृत्व मे प्राप्त की थी) फलतः अंग्रेजी पुस्तकों में वाटर लू के युद्ध का श्रेय वेलिंगटन को अत्यधिक और ब्लूशर को बहुत कम दिया जाता है। फ्रांस की क्रान्ति के कारणों का उल्लेख करते हुए अंग्रेजी की पुस्तकों में अमेरिकन स्वाधीनता का प्रभाव बहुत बढ़ा-चढ़ा कर बतलाया जाता है, क्रान्ति का वर्णन करते हुए अत्याचारों का अतिरंजित विवरण प्रस्तुत किया जाता है, क्योंकि वे ब्रिटेन के मित्र, फ्रेंच राजपक्ष वालों के विरुद्ध हुए थे। इसके विपरीत क्रान्ति के रचनात्मक पक्ष को बहुत कम महत्त्व दिया

जाता है । इन अंग्रेजी पुस्तको मे पिट और वेलिंगटन की व्यक्ति पूजा का भाव उससे कहीं अधिक रहता है जितना कि फ्रेंच लोग, उनके कथनानुसार, नेपोलियन के सम्बन्ध में भी नही व्यक्त करते । अंग्रेजी लेखक १८१५ के समझौते की प्रशंसा करते हुए कहते है कि उसके कारण सम्पूर्ण यूरोप में सौ वर्ष तक शान्ति बनी रही । कारण यह कि इस अवधि मे इंग्लैण्ड को किसी बडे युद्ध का सामना नहीं करना पडा । परन्तु हम उन दुर्घटनाओ को भुला देते है जिनमें १८वी शताब्दी में ग्रीस और दक्षिण अमेरिका के लोगो को फँसना पडा । १८३० और १८४८ में तथा इसके पहले और बाद भी फ्रांस को क्या भोगना पड़ा, १८५० और १८७० के लगभग तथा १९१४ के पहले बाल्कन में क्या हुआ और १८४८ के पहले से लेकर १८७० के बाद तक फ्रास, इटली तथा जर्मनी मे क्या बीती, इत्यादि बातो की अंग्रेजी पुस्तको में उपेक्षा रहती है ।

फ्रेंच लोग स्वय बडे खतरनाक ढग के राष्ट्रीय आत्मसतोष के दोषी है । नेहरू ने इसे 'सभी जातियो और सभी राष्ट्रो की एक विशिष्ट जाति समूह होने की विचित्र भ्रान्त भावना' कहा है । एक महान् इतिहासकार लेविसे ने प्रारम्भिक पाठशालाओ के लिए एक छोटी-सी इतिहास पुस्तक लिखी । इसके एक अध्याय का शीर्षक है 'ले कांक्वेट्स दे ला फ्रांस' जिसमे एक चित्र मे अल्जीरिया मे फ्रेंच सैनिकों पर अरब लोग आक्रमण करते हुए दिखलाये गये हैं जिसका परिचय विशिष्ट टाइपों (इटैलिक्स) में अंकित करते हुए कहा गया है 'हमारे सैनिको की वीरता पर समस्त संसार को गर्व हुआ ।' इसके सामने ही पुस्तक में अल्जीरिया के एक फ्रेंच स्कूल का चित्र दिया गया है जिसका परिचय (उन्ही विशिष्ट टाइपों में) देते हुए कहा गया है 'फ्रांस चाहता है कि फ्रेंच छोटे बच्चो के समान ही अरब बच्चे भी सुशिक्षित हों । इससे सिद्ध होता है कि जिन लोगो को उसने पराजित किया है उनके प्रति वह दया और उदारता का व्यवहार करता है ।' यह देखकर कोई आश्चर्य नहीं होता कि विख्यात फ्रेंच इतिहासकार द्वारा लिखी इस प्रारम्भिक इतिहास पुस्तक के अन्त मे बड़े-बडे प्रमुख टाइपो में यह शब्द अंकित है—'फ्रांस चिरजीवी हो ।' आज ४० वर्ष बाद पुस्तक में इस प्रकार का अकन बहुत ही मूर्खतापूर्ण लगता है । परन्तु क्या यह उतना ही मूर्खतापूर्ण नही है कि ४० वर्ष पहले की अंग्रेजी की पाठ्य पुस्तकों में ब्रिटेन के विदेशों में शासन को 'गोरी जातियों के भार' की भावना

हर जगह व्याप्त दिखाई देती है। आज भी ऐसी कितनी अंग्रेजी पाठ्य पुस्तकें हैं जिनमें आधुनिक मिस्र की समृद्धि का श्रेय क्रोमर को नही दिया जाता है ? ऐसी कितनी पुस्तकें हैं जिनमें मोहम्मद अली और पामर्स्टन के सम्बन्ध का वर्णन करते हुए यह लिखने की कृपा की जाती है कि मोहम्मद अली ने ही मिस्र में भूमि सुधारों और शिक्षा की प्रगति का प्रारम्भ किया और उन्होंने आलेग्जेंड्रिया तथा नील नदी के बीच नहर बनवायी ? मिस्र वालों ने जो थोड़ी-सी इतिहास पुस्तकें लिखी हैं उन सभी में इनका विवरण सामान्य रूप से मिलता है।

हर ओर यही दशा दिखाई देती है। जर्मन, तुर्क, रूसी और अमेरिकन सभी यह शिकायत कर रहे हैं कि उन्होने ससार की संस्कृति में जो योगदान किया है उसकी अन्य देशों की पाठ्य पुस्तको में उपेक्षा की जाती है। यदि अंग्रेजी की पुस्तको मे अन्य देशों के लोगो के महत्त्व की उपेक्षा रहती है तो फ्रेंच पुस्तको के सम्बन्ध मे भी यह बात एकदम ठीक है कि उनमे यूरोपीय संस्कृति को वर्साई का रूपान्तर मात्र ही बतलाया जाता है। जर्मन पुस्तकों में स्लाव लोगो को हटाकर जर्मनो को बसाने के प्रयत्न को दम्भपूर्वक संस्कृति के प्रसार की संज्ञा दी जाती है परन्तु दूसरी ओर जब वे स्लेवानी संस्कृति के हित मे जर्मनो के स्थान पर स्लाव लोगो के स्थापित किये जाने का वर्णन करते है तो वे खेद और पश्चात्ताप करते दिखाई देते हैं। पोलैण्ड, स्वीडेन या हालैण्ड या स्पेन, जो कभी बहुत शक्तिशाली थे और आज कमजोर हो गये है, के लोगों की भावना यह है कि अपने वैभव के काल में उन्होंने यूरोपियन सस्कृति में योगदान किया उसकी उन देशो की पाठ्य पुस्तकों में एकदम उपेक्षा की जाती है जिन्हें अभी उनकी-जैसी अवनति भोगने की नौबत नहीं आयी है।

कहने का तात्पर्य यह है कि इतिहास पुस्तकों में पूर्वाग्रह का झमेला यह है कि हम जिन परिस्थितियो में पले हैं उनके प्रभावों से अलग होकर ऐसे दृष्टिकोणों से भी विचार करें जो हमारे लिए एकदम नये और अपरिचित होते हुए भी दूसरों में में सामान्य रूप से प्रचलित हैं। हमें फिर मैथ्यू आर्नाल्ड के इस अनुरोध पर ध्यान देना होगा कि संसार के सर्वश्रेष्ठ ज्ञान और चिन्तन को ग्रहण करके उसका प्रसार करना चाहिए। इसी प्रकार हमे गोल्डस्मिथ के उन पत्रो पर ध्यान देना है जो उन्होंने विश्व के नागरिक की हैसियत से लिखते हुए पश्चिम के अपने साथियों

को सचेत किया है कि पूर्व के सांस्कृतिक मूल्यों को उन्हें नहीं भुलाना चाहिए। वर्तमान समय में टायनबी ने भी इसी बात पर जोर देते हुए कहा है कि 'हमें अपने में ऐसी मानसिक या आध्यात्मिक चेतना विकसित करनी है जिससे हम अंगरेज, फ्रेंच, जर्मन या अमेरिकन भावना के बधनो को तोड़ कर अपनी-अपनी संकुचित मनोवृत्ति के पाश से मुक्त हो सकें।'

'संकुचित मनोवृत्ति'—यही तो मूल बात है। हमारी संकुचित मनोवृत्ति सास्कृतिक परम्पराओं से हमें विरासत के रूप में मिलती है और हम अपनी शिक्षा के वातावरण द्वारा ज्ञान की संकुचित परम्पराएँ प्राप्त करते हैं। हमने ऐसे शिक्षकों से जो स्वय अनजाने में ही सकुचित मनोवृत्ति वाले थे, इसी संकुचित प्रवृत्ति वाले इतिहास का पाठ पढा है और अपनी इस कमी का अनुभव किये बिना हम आगे की पीढी के विद्यार्थियो को इसी सकुचित प्रवृत्ति का इतिहास पढाते हैं। परिणामत. वे भी हमारी-जैसी ही सकुचित मनोवृत्ति वाले होंगे। हम घिसी-पिटी मान्यताओ को दुहराते है जिनकी सच्चाई परखने का हमने स्वयं कभी प्रयत्न नही किया है। हम पूर्वीय देशो के धोखेबाजी के व्यवहार की बात कहते है जैसे कि पश्चिम के देश इस प्रकार के व्यवसाय से सर्वथा अपरिचित ही रहे हैं; प्रशा के सैनिक आचरण की चर्चा करते है, जैसे कि अन्य देशो की सेनाओ मे सैनिकवाद की भावना थी ही नही; अत्याचार का उल्लेख इस प्रकार करते है जैसे कि शासन में दृढ़ता दिखाना कोई बहुत गलत बात हो; मुट्ठी भर लोगों के शासन की निन्दा करते हैं जैसे कि बहुसंख्यक लोग, थोड़े-से लोगो की अपेक्षा अधिक उदार वृत्ति के होते हो, 'एल्बियन विश्वासघात' का उल्लेख करते है जैसे कि विश्वासघात करना केवल ब्रिटिश लोगो की विशेषता रही हो; 'कल्टर' कह कर यह भाव प्रकट करते हैं कि सभी गैर जर्मन लोग असभ्य और बर्बर ही है; प्रत्येक रूसी को जारशाही का नमूना बतलाते है जैसे कि गोगेल से लेकर डयाफील्फ तक की कला का कोई महत्त्व ही नही है।

हमारी पाठ्य पुस्तको की सम्पूर्ण शब्दावली अचेतन पक्षपात से भरी हुई है। हम 'नेटिव', 'अश्वेत', 'काली जाति' या 'नीग्रो' जैसे विशेषणों का प्रयोग करके अपनी घृणा का भाव व्यक्त करते है। ब्रिटेन मे 'डेमाक्रेसी' शब्द का भाव (प्लेटो की परिभाषा के प्रतिकूल) श्रेष्ठता के तत्त्वों से युक्त है परन्तु और देशों में यह

अयोग्यता का भाव व्यक्त करता है और कम्यूनिस्ट देशों में यद्यपि इस शब्द को अच्छे अर्थों में लिया जाता है फिर भी वहाँ यह ब्रिटेन-जैसा भाव व्यक्त करने वाला नहीं है। जब ब्रिटेन में जर्मनी के 'जंकर' शब्द का प्रयोग किया जाता है तो जर्मन लोगों के समान ही ब्रिटिश लोग उसे 'स्क्वायर' के अर्थ में लेते हैं अर्थात् सैनिक मनोवृत्ति का अत्याचारी जमीदार। कला के क्षेत्र में 'हेलेनिक' शब्द श्रेष्ठता की भावना व्यक्त करने वाला और 'हेलेनिस्टिक' हीनता का भाव व्यक्त करने वाला है जैसे कि अठारहवी शताब्दी में 'गोथिक' शब्द।

विशेष शब्दों के प्रयोगों द्वारा उत्पन्न होने वाली भ्रान्ति के साथ ही एक ही कार्य के लिए प्रयुक्त होने वाले क्रिया शब्दो में जो लाक्षणिक भिन्नता उत्पन्न होती है उनके प्रयोग द्वारा भी भ्रान्ति की भावना फैलायी जाती है और अन्तर साधारणतया ध्यान में नही आता। पाठ्य पुस्तको के लेखक इस पक्षपात की ओर ध्यान ही नही देते कि निकोलस द्वितीय या एडवर्ड द्वितीय की हत्या को तो 'मर्डर' कहते हैं किन्तु चार्ल्स प्रथम की हत्या (उसकी सम्पूर्ण कानूनी अभिव्यक्तियों सहित) को या लुई चौदहवे की हत्या को 'एक्जीक्यूशन' बतलाते है। यह भी पक्षपात रहित बात नही है कि हम कैथलिक धार्मिक संगठन के दो हिस्सों में विभाजन को 'रिफार्मेशन' (सुधार) कहे या हूस या जोन आफ आर्क की मृत्यु को शहादत बतलायें। जब हम अतीत काल के अति प्रसिद्ध युद्ध को 'पेलोपोन्नेसियन' कहते हैं तो इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि हम अर्ध चेतन रूप में अथीनिया वालो की तरफदारी करते है— जिनसे, वस्तुतः हमने इस युद्ध की अपनी समस्त जानकारी प्राप्त की है। हम कहते हैं कि हैनीबाल और स्कीमियो ने एक-दूसरे से जो युद्ध किया उसे हम 'रोमन' युद्ध न कहकर 'प्यूनिक' युद्ध बतलाते है। यह इसलिए कि हम इस युद्ध की जानकारी रोमन सूत्रों से प्राप्त करते हैं और हमारा इस सम्बन्ध में विचार करने का ढग रोमन दृष्टिकोण से होता है। संघर्ष की इन बीती बातों के सम्बन्ध में पक्षपात की भावना आज के युग के लिए कहाँ तक हानिकर है यह पहली दृष्टि में भले ही न दिखाई दे परन्तु यह बात वास्तव में अप्रासंगिक नही है। स्कूलों में पढ़ने वाले विद्यार्थियों में से कुछ एथीनिया वालों के प्रशंसक बन जाते हैं और कुछ स्पार्टा वालों के और इसी प्रकार कुछ रोम वालों की तारीफ करते है तथा इसके विरुद्ध कुछ कार्थाजिया वालों की। इस प्रकार अपने स्कूली जीवन में ही इस सम्बन्ध में वे जो

भावना बना लेते हैं उसके आधार पर बड़े और वयस्क होने पर उनमें एक दृढ़, यद्यपि धुँधली धारणा बनी रहती है कि यूरोपियन संस्कृति को स्पार्टा की अपेक्षा एथेंस से अधिक अच्छी प्रेरणा मिली है और प्यूनिक प्रभाव मे न आकर रोमन भावनाओ से प्रभावित होने में उनका हित हुआ है। यद्यपि नित्शे और नाजी लोगों को पहले प्रभाव के सम्बन्ध में सन्देह बना रहा था और अधिक विज्ञ लोग अब भी दूसरे प्रभाव के सम्बन्ध में सदिग्ध ही है।

यह सभी सुप्त चेतना वाले पक्षपात के उदाहरण है। हम बँधे-बँधाये और घिसे-पिटे ढग से विचार करने के इतने अभ्यस्त हो गये है कि स्वतन्त्र ढंग से सोचने की ओर हमारा ध्यान शायद ही कभी जाता हो। अध्यापको की पीढ़ियाँ हमें वही पढाती चली आती है जो उन्होने स्वय अपने विद्यार्थी जीवन में पढ़ा था; विद्वानों की पीढियाँ जो ज्ञान प्राप्त करती आयी है वही ये आगे के लोगो के लिए प्रस्तुत कर देती है। परिणाम यह है कि स्कूलो और विश्वविद्यालयो मे पढ़ाया जाने वाला इतिहास नये विश्व की आवश्यकताओ से बहुत पिछडा हुआ है जिसके अनुरूप हमें अपनी नयी पीढी का निर्माण करना है। आज के समय की शिक्षा एक ऐसे मोड़ पर पहुँची हुई है जो रिनेसा के समय की शिक्षा-संकट से कही अधिक सकटपूर्ण है। यदि सोलहवी शताब्दी मे स्कूलो के लिए नये पाठय-विषयो और नये ढग की पाठय पुस्तको का होना आवश्यक था तो आज बीसवी शताब्दी में यह आवश्यकता कही अधिक बढ़ी मात्रा मे है। इसमे सन्देह नही कि यह परिवर्तन धीरे-धीरे होना चाहिए क्योंकि शिक्षा के क्षेत्र में तीव्र परिवर्तनो से बहुधा बड़े खतरे पैदा हो जाते हैं। परन्तु इस परिवर्तन की शुरूआत तो होनी ही चाहिए और समस्त विज्ञानेतर विषयो मे से इतिहास के विषय के सम्बन्ध मे यह आवश्यकता सबसे अधिक है। इतिहास के शिक्षको के लिए आवश्यक है कि वे नया दृष्टिकोण अपनाये और अपने विचारो की अभिव्यक्ति के लिए नयी शब्दावली का प्रयोग करें। उन्हे अब इतिहास के उन पहलुओ को पढ़ाने की आवश्यकता है जिनकी अबतक उपेक्षा होती रही है। यह बात पूर्वीय देशों के इतिहास के व्यापक क्षेत्र के सम्बन्ध में भी उतनी ही लागू होती है जितनी कि यूरोपीय इतिहास की छोटी-मोटी बातों के सम्बन्ध में। हमें यूरोप के पड़ोसियो के सम्बन्ध में इस समय की अपेक्षा कही अधिक जानकारी कराने की आवश्यकता है। और पूर्वीय देशो के सच्चे इतिहास के सम्बन्ध में तो

हमने अभी पढ़ाने का काम प्रारम्भ भी नही किया है। पूर्व के इतिहास को उसका उचित महत्त्व देने में तो हमें अभी कई पीढ़ियों का समय लग जायगा।

× × ×

परन्तु क्या ऐसा करना व्यावहारिक हो सकेगा ? जब कि पढ़ाई के घंटों के समय निर्धारण में मौजूदा विषयों का समावेश ही कठिनाई से हो पाता है तब पढ़ाई के विषयों सम्बन्धी रुचि के विस्तार और इतिहास की पढ़ाई के विषय क्षेत्र को और बढ़ाने के लिए समय कैसे निकाला जा सकेगा। यूरोप के सभी देशों में बच्चों की कक्षाओं में इतिहास की पढ़ाई के लिए सप्ताह भर में दो या तीन घंटे ही रखे जाते हैं और सभी देशों के अध्यापक यही रोना रोते रहते हैं कि इतने कम समय में वे सभी बातें नही पढ़ा पाते। ऐसी स्थिति में इतिहास के पाठ्य-क्रम का विस्तार, नये विषयों के समावेश से, कर देने से क्या लाभ हो सकेगा ?

ऐसे सवालों का उठाया जाना ही यह सिद्ध करता है कि हम इस प्रश्न को ठीक तरह से समझ ही नही रहे हैं। हम पढ़ाई के घटों और पाठ्य-विषयों पर कोरे अंकगणित के आधार पर विचार न करके वास्तव में समाज और मनुष्य की मनो-वृत्ति के सम्बन्ध में विचार कर रहे हैं। यदि यह सही है कि इस समय सम्पूर्ण विश्व का इतिहास पढाने के लिए समय ही नही मिल पाता तो इससे भी अधिक सही बात यह है कि इसे न पढाना घातक सिद्ध हो रहा है ? अब तक हर देश के लोग अपने से भिन्न देशो के लोगो के आधारभूत आदर्शों और संस्कृति से अपरिचित बने रहते हैं तब तक वर्तमान समय की भाँति हम सदा ही विनाश के खतरे के किनारे ही बने रहेगे। ऐसे ससार में जिसकी परिक्रमा सप्ताह भर के भीतर ही सम्भव हो गयी है ब्रिटिश बच्चो के लिए यूरोप के इतिहास की जानकारी उतनी ही आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है जितनी कि स्वयं अपने देश ब्रिटेन के इतिहास की जानकारी। इतना ही नही, बल्कि उनके लिए एशिया के देशों के इतिहास की जानकारी यूरोप के इतिहास-जैसा ही महत्त्व रखती है। ऐसा नहीं है कि हम आजकल अपने समय का अच्छे से अच्छा उपयोग कर रहे हों। क्या कोई भी यह सच्चाई से कह सकता है कि हमारे पास अखनाटन अथवा बुद्ध या अशोक अथवा अलहज़ों के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिए समय ही नहीं है जब कि हमें कैरेक्टेकस और गेवेस्टन, लैम्बर्ट सिमनेल और राइटस ओट्स तथा दर्जनों अन्य

महत्त्वहीन लोगों के बारे में समय मिल जाता है ? हम हान, सुग, मंगोल, मुगल और अरब सभ्यताओ के बारे में पढ़ने के लिए समय न निकाल पायें और मुद्रा चिह्नों, चौकोनी मेहराबों, बुनाई की मशीनों, क्राम्पटन के खच्चर और स्टीफेन के राकेट की जानकारी प्राप्त करने के लिए समय पा जाते है ? हम्मूरबी या जस्टीनियन या नेपोलियन की न्याय सहिताओ को पढने के लिए तो हमारे पास समय न हो और १८३२ के शासन सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धो, गिरजाघरों के भूस्वामित्त्व या शिकमी काश्तकारो-जैसे कितने ही महत्त्वहीन विषयों को जानने में समय बरबाद करते फिरें। उदाहरणस्वरूप सोलहवी शताब्दी को ही ले लीजिए। क्या अंग्रेज बच्चो को रिनेसा काल की कलाओ,पूंजीवाद के उद्भव, तुर्की और पोलैण्ड, रूस और अजरेक, अकबर और टोकूगावा शोगुनाते की सफलताओ टाइका ब्रोहे की ज्योतिष और केपलर तथा गेलीलियो के सम्बन्ध मे कुछ भी न पढ़ाया जाय और दूसरी ओर एम्पसन और डडले, हेनरी अष्टम की बीबियों, 'सोने के कपड़े के खेत' पोप की मालगुजारी की वसूली, धार्मिक अत्याचारो तथा राजनीतिक हत्याओ के सविस्तार विवरण पढ़ाकर उनका समय नष्ट किया जाय ?

× × ×

बहरहाल जिस विवेकपूर्ण अध्ययन का हमने प्रारम्भ कर दिया है उस प्रवृत्ति को हमें आगे बढाते जाना है। जो इतिहास किसी एक पीढी के लोगों को पढ़ाया जाता है वह उसके बाद वाली पीढी के लिए उपयुक्त नही रह जाता। अतः हम अपने इतिहास के अध्ययन सम्बन्धी प्राणरहित विषयों के सम्बन्ध मे वही उपेक्षा भाव अपनाये जो हमसे पहले की पीढी ने राजा एल्फ्रेड और उसकी रोटियो या इतिहास के नाम पर बेनाक बर्न की चालो के बेतुके विवरणो के सम्बन्ध मे इस शताब्दी के प्रारम्भ के समय अपनाया था।

परन्तु केवल इतने से ही काम न चलेगा कि हम इतिहास की गलत या अनावश्यक बातों की ओर ध्यान देना छोड़ दे। हमे अपने अध्ययन में इतने अधिक नये विषय सम्मिलित करने की आवश्यकता है कि हमें बहुत से महत्त्वपूर्ण इतिहास विषयों को भी छोड़ना होगा—केवल इसीलिए कि उनके स्थान पर अपने अध्ययन के लिए जो नये विषय हम रखेंगे वे अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व वाले होगे। हमें केवल उपयोगी और अनुपयोगी विषयों के बीच ही चुनाव नहीं करना है अपितु

उपयोगी विषयों में भी कम और अधिक महत्त्व का विवेक रखकर चलना है। अनावश्यक विषयों को हटा देने का काम तो काफी आसान है। कठिनाई तो ऐसे विषयों को हटाने के सम्बन्ध में पैदा होगी जिन्हें हम अब तक अपने अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण मानकर पढ़ाते चले आये हैं। हमें क्रान्तिकारी परिवर्तनों का रुख अपना कर अपने रुचिकर विषयों की पढ़ाई का मोह छोड़ना होगा और तब अध्ययन का वह नया ढाँचा अपनाना होगा जो प्रायः सभी रूढ़िवादियों को अरुचिकर होगा। वास्तव मे हमें अपनी आधारभूत बातों का नये सिरे से मूल्यांकन करना होगा। इतिहास शिक्षित बनाने का एक माध्यम है और आज हमें जिन विद्यार्थियों को पढाकर शिक्षित करना है उनके पास समय की वैसी इफरात नहीं है जैसी कि इतिहास की पढाई आर्नाल्ड के द्वारा प्रारम्भ किये जाने (जिससे कट्टरपंथियों को बडा सदमा हुआ था) के समय के विद्यार्थियो को थी। आज तो लोगो के सामने विविध प्रकार की ऐसी राजनीतिक और सामाजिक समस्याएँ उपस्थित हैं जिनकी आर्नाल्ड ने कभी कल्पना भी नहीं की होगी। उस समय के औसत अंग्रेज बच्चे को अपने वयस्क जीवन की उपयोगिता के लिए जैसे इतिहास के अध्ययन की आवश्यकता थी उससे आज के बच्चो का काम उनके बड़े होने पर नही चल सकेगा। आज के बच्चों को उच्च वर्गों की परम्पराओं और कर्तव्यों के बारे में ज्ञान कराने की कोई भी आवश्यकता नही रह गयी है। आज के बच्चों को तो बडे होने पर ऐसे संसार में जीवन बिताना होगा जिसमें श्रमिक वर्ग की सत्ता और दायित्व वैसे होंगे जिनका स्वप्न भी पुराने समय के बच्चों को रोजी से लगाने वालों ने नही देखा होगा। आज के बच्चो को ऐसी दुनिया में जीवन बिताना है जिसमें इंग्लैण्ड का महत्त्व पहले से कहीं घटा हुआ होगा और अमेरिका, रूस, भारत तथा चीन का पहले से कही बढ़ा हुआ। आज के राजनीतिक वातावरण ने समूचे विश्व को अपनी परिधि में समेट लिया है और संसार का शायद ही ऐसा भाग हो जहाँ इंग्लैण्ड की जनसत्तात्मक भावना व्याप्त हो। अतः आज जनसत्तात्मक परम्परा के इतिहास को पढ़ाने का महत्त्व वैसा नहीं रहा जैसा १०० वर्ष पहले या ५०० वर्ष पहले था। आज के संसार में जनसत्तात्मक पद्धति मुख्यतया पार्लियामेण्ट के इतिहास सम्बन्धी पुरानी बातों की जानकारी की आवश्यकता बहुत घट गयी है।

वस्तुतः आज यह पढ़ाने की आवश्यकता बहुत घट गयी है कि पार्लियामेण्टरी

जनसत्तात्मक पद्धति इंग्लैण्ड में क्यों सफल हुई और प्राय· अन्य सभी देशों में वह क्यों तथा किस प्रकार असफल रही । आज भी संसार में जनसत्तात्मक शासकों की अपेक्षा डिक्टेटरी शासन अधिक देशों में चालू है । डिक्टेटरों की सत्ता आज पहले से कही अधिक बढ़ी हुई है और उनकी सख्या भी बढ़ती जा रही है । अंग्रेज बच्चों की शिक्षा में यह बतलाने की आवश्यकता है कि डिक्टेटरी शासन कैसे सफल या असफल हुए । आज की दुनिया में पेरीक्लीज़ या एलिजाबेथ प्रथम या फेडरिक महान् की कूटनीतियों की जानकारी कराना ग्राची या वालपोल या ग्लैडस्टन की नीतियो सम्बन्धी ज्ञान से कही अधिक आवश्यक और संगत है ।

क्या हम परिस्थिति के कठोर परिणामों का सामना करने का साहस रखते है ? हमारे सामने दो ही विकल्प है । यदि हमें अधिक महत्त्वपूर्ण बातो को अपने बच्चों को पढ़ाने के लिए समय निकालना है तो हमे अपेक्षाकृत कम महत्त्व के विषयो के अध्ययन की उपेक्षा करनी ही होगी । यदि हमें डिक्टेटरी शासनों का अध्ययन अधिक विस्तार से कराना है तो हमें पार्लियामेन्टरी पद्धति सम्बन्धी अध्ययन को संक्षेप मे समाप्त करना होगा । यदि हमारे पास पढाई के लिए समय की कमी है तो हमे विभिन्न विषयों को, जिन्हे हम अबतक अलग-अलग सविस्तार पढ़ाते आये हैं, एक साथ मिलाकर सक्षेप मे पढ़ाना होगा ताकि हम इस प्रकार बचे हुए समय मे उन नये विषयो को पढा सकें जिन्हें पढाना अब अत्यावश्यक हो गया है । उदाहरण के लिए हमें अनिच्छा किन्तु दृढतापूर्वक अपने इतिहास के पाठो में से 'विटन', 'मैड पार्लमेन्ट', 'स्टार चैम्बर', 'राटेनबरो' और 'चार्टिस्ट' जैसे अपेक्षाकृत अप्रधान विषयों को निकाल देना होगा । इन विषयों का बहिष्कार कर देने की अनिच्छा तो हमारे मन मे अवश्य होगी किन्तु जब हम देखते है कि बच्चो को आधुनिक ससार का योग्य नागरिक बनाने के लिए इनकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण इतिहास विषयो की शिक्षा उन्हे देना आवश्यक है और हमारे पास समय की कमी है तो हमे दृढतापूर्वक यह काम करना ही होगा । क्या आज कोई व्यक्ति दबी जबान से भी यह कहता है कि छोटे बच्चो को ऐसे विषय पढाने की आवश्यकता नही रह गयी है जैसे कि 'मैगनाकार्टा' (यह वैधानिक बुलबुला १७वी शताब्दी के प्रारम्भ में उत्पन्न हुआ और २० वी शताब्दी के प्रारम्भ में फूट गया) या 'माडल पार्ला-, मेण्ट' (जो अन्ततः निराली ही सिद्ध हुई) या 'पिटीशन आफ राइट्स' (जिसने

कभी भी कानून का दर्जा नहीं प्राप्त किया और जिसे अन्ततः 'विद्रोह' के समय पुन. कानून के रूप में स्वीकार करने की आवश्यकता हुई या १९ वीं शताब्दी के पार्लियामेण्ट सम्बन्धी सुधारों की विस्तृत व्याख्या जो शीघ्र ही समाप्त किये जाने के कारण स्मरण करने योग्य नही रह गये। इन विषयो की उपेक्षा का यह परिणाम अवश्य होगा कि इंग्लैण्ड के कितने ही विद्यार्थी अपनी स्कूली पढ़ाई समाप्त करने पर 'मैगनाकार्टा' सम्बन्धी ज्ञान से वंचित रहेंगे परन्तु दूसरी ओर इससे यह लाभ भी होगा कि उन्हें चंगेज खाँ के समय की उपलब्धियो की जानकारी कराने के लिए हम समय दे सकेंगे। और मानव जाति के लिए इन उपलब्धियों का महत्त्व इंग्लैण्ड के इतिहास की सबसे महत्त्वपूर्ण घटनाओं से कहीं अधिक है। इंग्लैण्ड के बादशाह जान का विश्व के लिए कोई महत्त्व नही है जब कि चगेज खाँ का विश्व-इतिहास में निश्चित स्थान और महत्त्व है। इसी प्रकार मैगनाकार्टा समूचे विश्व को प्रभावित करने वाला विषय नही है जब कि मगोल साम्राज्य निश्चय ही इस कोटि का विषय है। यदि हमें इनमें से एक विषय अपने बच्चों को पढ़ाने के लिए चुनना है तो हम किसे चुनेंगे ?

थोड़ा-सा ध्यान देने पर किसी भी शताब्दी के इतिहास के सम्बन्ध में इसी प्रकार का विषम असन्तुलन स्पष्ट रूप से प्रकट हो जायगा। हमारी पाठ्य पुस्तकों मे अपेक्षाकृत कम महत्त्व के विषयों को अधिक विस्तार से और अधिक महत्त्व के विषयों को कम विस्तार से पढ़ाने के कुछ बिखरे उदाहरण ही पर्याप्त होंगे। उनमें थेल्स की अपेक्षा नेबूचेदनजर का अधिक विस्तृत वर्णन रहता है; सात्रेटीज की अपेक्षा पेरीक्लीज का, आर्कमीडीज की अपेक्षा हेनीबाल का, टांग की अपेक्षा बीड का, एवीसेना की अपेक्षा एथेलरेड का, रिनेसां युग के समस्त कलाकारो की अपेक्षा चार्ल्स दि बोल्ड का, टूल की अपेक्षा सेचेवरल का, लीबिज और लाज के सयुक्त विवरण से भी अधिक पील का,डार्विन की अपेक्षा डिजरैली का और आइंस्टीन तथा समस्त परमाणु भौतिक विदो के सयुक्त विवरण से भी अधिक हिटलर का विवरण रहता है। हम पश्चिमवासी सत्ता राजनीति के प्रति अधिक चेतनशील रहते हैं और राजनीति से इतर क्षेत्रों की उन शतियों के भी मूल्यांकन की उपेक्षा करते हैं जिन्होंने भावी पीढियों के जीवन को राजनीति की अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावित किया है।

व्यक्तियों के समान ही विचार प्रवृत्तियों और आन्दोलनों के सम्बन्ध में भी हमारा रवैया यही रहा है। हमारा झुकाव ऐसी कितनी ही बातों को महत्त्व देने का रहा है जो अन्ततः प्रभावहीन सिद्ध हुई हैं और दुनिया में उथल-पुथल मचा देने वाली बातों के विवरण संक्षिप्त और महत्त्वहीन ढंग से करते हैं। हमें अपनी पुस्तकों में स्पार्टा के संविधान या रोमन साम्राज्य की सीमा सुरक्षा या 'वार्स आफ दि रोजेज' ('गुलाबों के युद्ध') या लुई चौदहवें की वास्तुकला सम्बन्धी नफासतों के सम्बन्ध में तो बड़े-बड़े अध्याय पढ़ने को मिल जायेंगे किन्तु इन्हीं पुस्तकों में ऐसे महत्त्वपूर्ण आन्दोलनों का नामोल्लेख भी न मिलेगा जैसे ईसा पूर्व की पाँचवीं और छठी शताब्दी के विश्व व्यापी धार्मिक विचार क्रान्ति या रोमन साम्राज्य के समय की भारत और भूमध्यसागर के बीच के क्षेत्र की विभिन्न जातियों की पारस्परिक उथल-पुथल, या रूस का प्रारम्भिक उद्भव या समूचे सुदूरपूर्व की सभ्यता। ये सभी विषय इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि इनकी गहरी छाप आज के संसार पर अंकित है। जब वास्तव में यह अवस्था हमारे सामने है तो इतिहास का अध्यापक किस मुँह से कह सकता है कि उसकी पाठ्य पुस्तकों और पढ़ाई के घंटों में नये विषयों के लिए स्थान और समय ही कहाँ है? जिन महत्त्वपूर्ण विषयों की हम आज उपेक्षा कर रहे हैं उनके लिए स्थान और समय अपने आप मिल जायगा। यदि हम अपनी पाठ्य पुस्तकों से फालतू और महत्त्वहीन विषय हटा दें।

३

जब कोई आधुनिक अंग्रेज इतिहास के भ्रष्ट किये जाने की बात कहता है तो प्रायः उसके ध्यान में जर्मन या रूसी इतिहास पुस्तकें होती हैं। सन् १९०० और १९१४ के बीच के काल में जर्मनी में वैज्ञानिक विवेक और निर्लिप्त विवेचन का अन्त हो गया और वह झूठ का खजाना बन गया। इसी प्रकार १९४४ के बाद से ही रूस साहित्यिक और कलात्मक सत्य का स्रोत नही रहा और वह गलत सिद्धान्तों का घर बन गया। इन दोनों देशो में हुए इन परिवर्तनो के समर्थन के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है परन्तु दोनों ही देशों में यह परिवर्तन प्रत्यक्षतः इतने आकस्मिक और उथले ढंग से हुआ कि आज सामान्य जर्मन और रूसी विचारधाराओं के सम्बन्ध में पश्चिमी विचारो के आमूल पुनः मूल्यांकन की आवश्यकता है। जर्मन और रूसी इतिहास प्रवृत्तियों और उसकी पढ़ाई के सम्बन्ध मे भी यही बात लागू होती है।

लोगों की आम धारणा है कि इतिहास लिखने में सत्य का वर्णन बहुत ही आसान काम है, किन्तु वास्तव में यह काम सरल न होकर बहुत ही कठिन है। परन्तु हम सभी जानते है कि नाजियों ने जानबूझ कर और शान्त चित्त से अपने इतिहास का प्रयोग झूठ के प्रतिपादन और संवर्धन में किया। यह बात हमें बारम्बार बतलायी गयी है और इसीलिए हम सभी इससे परिचित हैं। परन्तु इस कथन से हमारा वास्तविक अभिप्राय क्या है यह बात हममें से कितने समझते होंगे। हममें से कितने ऐसे है जिन्होंने कभी भी कोई नाजी इतिहास पुस्तक पढ़ी होगी ? परन्तु ऐसा करना लाभदायक होगा ताकि हमें पता तो चले कि नाजियों ने अपने इतिहास के सम्बन्ध में क्या किया और कैसे किया।

यह काम काफी आसान है। नाजी शासन काल में ऊटपटांग साहित्य का जो ढेर प्रकाशित हुआ उसमें खोज करने की आवश्यकता नहीं है। इस सम्बन्ध में नाजी लोग उतने ही अच्छे या बुरे हैं जैसे कि अन्य देशों के राजनीतिक लोग।

सभी देशों में काफी बड़ी मात्रा में सिरफिरे लोग होते हैं जो ऊटपटांग साहित्य प्रकाशित किया करते हैं जिसका उस देश के विरोधी लोग, युद्ध या शान्ति के समय, उद्धरण देकर यह सिद्ध कर सकते हैं कि वहाँ के देशवासी या तो मूर्ख हैं या धूर्त अथवा मूर्ख और धूर्त एक साथ हैं। परन्तु हमें ऐसे सिरफिरे सनकी लोगों की ओर नहीं ध्यान देना है। हमें तो यह देखना है कि इतिहास के सम्बन्ध में नाज़ियो की सामान्य और व्यापक धारणा क्या है। इसे हमें दार्शनिक या उच्च अध्ययन वाली पुस्तकों में नहीं, चाहे वे कितनी ही योग्यता या अयोग्यता से लिखी गयी हों,अपितु स्कूली पाठ्य पुस्तकों में खोजना है। पाठ्य पुस्तक का उद्देश्य ही सामान्य जानकारी प्रस्तुत करना होता है। किसी भी देश की इतिहास सम्बन्धी पाठ्य पुस्तको में हमें वहाँ की इतिहास विषयक चेतना की सामान्य बातें मिलेंगी। अतः यदि हम यह जानना चाहें कि नाज़ियो के शासन के अन्तर्गत इतिहास सम्बन्धी विचारो की कैसी कट्टरता फैलायी गयी तो हमें वह नाज़ी पाठ्य पुस्तकों में मिल जायगी।

सौभाग्य से हमें अपने काम के लिए केवल एक ही पुस्तक का परीक्षण करना है। कितने ही देशों की सरकारों की भाँति नाज़ियों ने भी अपनी स्कूली पाठ्य-पुस्तकों पर कड़ा नियन्त्रण रखा, यद्यपि इग्लैण्ड की किसी भी सरकार ने ऐसा नहीं किया। उच्च सभ्यता वाले अधिकाश देशों मे इतिहास की पाठ्य पुस्तको के लेखक अपनी रचनाओ में अपने इच्छानुकूल विवरण न देकर उन्ही बातों का समावेश करते है जो उनकी सरकार चाहती है और सरकार उन्हीं पुस्तकों को स्कूलों में पढ़ाने देती है जो उसकी मान्यताओ के सबसे निकट होती है। यदि हम इसके लिए नाज़ियों को दोषी ठहराये तो हमें प्रायः प्रत्येक देश की सरकार को समान रूप से दोषी मानना पड़ेगा, ऐसे देशो को भी जो असंदिग्ध रूप से जनसत्तात्मक पद्धति पर शासित हो रहे है और इनमें से कई ब्रिटिश परिवार के भी हैं।

अधिकतर देशों में पुस्तकों की एक नामावली स्वीकृत होती है और अध्यापकों को उनमें से किसी एक को पढ़ाने की छूट रहती है। यह नामावली कहीं लम्बी होती है जिसमें सैकड़ों पुस्तको के नाम दिये रहते हैं और कहीं यह अति संक्षिप्त होती है, दो या तीन पुस्तकों वाली। कुछ देशों में केवल एक ही पुस्तक अनिवार्य रूप से सभी स्कूलो में पढ़ायी जाती है (ऐसे देशों में एक नाम

पश्चिम यूरोप के जनसत्तात्मक पद्धतिवाले देश का भी है) । लम्बे समय तक इस सम्बन्ध में प्रयोग करने के बाद अन्त में नाजियों ने १९४४ में अपने यहाँ यही किया । उस समय तक नाजियों ने अपनी यह नीति स्थिर कर ली कि समस्त स्कूली पुस्तकों का प्रकाशन सरकार के एक विभाग द्वारा ही हो और इतिहास के सम्बन्ध में यह नीति लागू भी कर दी गयी । १९४४ के बाद से सभी माध्यमिक विद्यालयों के लिए इतिहास की केवल एक पाठ्य-पुस्तक रखी गयी । यह तीन छोटे-छोटे खण्डों मे थी और इसका नाम था 'डरवेगड्स राइख़' अर्थात् 'राइख़ का मार्ग' । इतिहास और उसकी पढ़ाई के प्रति नाजियों की प्रवृत्ति के सम्बन्ध मे सम्पूर्ण जानकारी हमें इस एक पुस्तक से ही प्राप्त हो जायगी ।

सबसे पहले तो हम यह देख लें कि इसमें एकदम झूठ बातों का समावेश कहाँ तक किया गया है अर्थात् ऐसी बातो का जो मान्य इतिहास लेखकों द्वारा दिये गये तथ्यों के एकदम प्रतिकूल हों । इस कोटि की तो एक भी बात हमें इस पुस्तक में नही मिलेगी । नाज़ी लोग ऐसे कच्चे और नौसिखिया प्रचारक नही थे कि वे ऐसी गलती करते । प्रचार की दृष्टि से एकदम झूठ बातें टिकाऊ नहीं होती । कभी-न-कभी झूठ का पर्दाफाश हो जाता है । निस्सन्देह हिटलर यह कहता था कि जितनी ही बड़ी झूठ बात कही जायगी और जितना ही अधिक उसे दुहराया जायगा उतनी ही अधिक वह विश्वसनीय बन जायगी । फिर भी जर्मनी का विशाल प्रचार संगठन समस्त मुद्रित साहित्य में झूठ के कणों को जिस प्रकार बिखेर कर घुला-मिला देता था वह युद्ध-काल की एक महान् परिकल्पना थी । स्कूली पुस्तको में विशेष रूप से, सहज में ही पहचान लिए जाने वाले झूठ का समावेश कठिन और निरर्थक प्रयास ही होता । स्कूली पुस्तको को लिखने और उन्हें पढ़ाने वाले शिक्षकों की शिक्षा-दीक्षा उनमें तथ्यों तथा मान्यताओं की छानबीन की मनोवृत्ति पैदा कर देती है । और ऐसे वर्ग के लोग (चाहे वे किसी भी जाति या देश के हों) पुस्तकों में एकदम झूठ बातें लिखने या उन्हे पढ़ाने के लिए कभी तैयार न होंगे । फिर इन पुस्तकों को पढ़ने वाले विद्यार्थियों में अपने से बड़ों की गलती पकड़ने और उसका मजाक बनाने की एक सहज प्रवृत्ति होती है । अत: कोई भी सरकार, चाहे उसका प्रचार-संगठन कितना ही तगड़ा क्यों न हो, स्कूली बच्चों में व्यापक रूप से सफेद झूठ का प्रचार करने में सफल नहीं हो सकती ।

फलतः नाजी पुस्तकों में ऐसा कोई भी उद्धरण ढूंढ़े नही मिलेगा जिसे स्पष्टतः झूठ कहा जा सके। 'डरवेगजम राइख' का प्रत्येक वाक्य निश्चय ही सत्य अथवा कम-से-कम तर्कसंगत अवश्य दिखाई देगा। 'डरवेगजम राइख' को हम झूठ की गठरी तो नही कह सकते किन्तु साथ ही यह कहना भी अनुचित न होगा कि वह आदि से अन्त तक झूठ से ओतप्रोत है।

इस पुस्तक का मुख्य दोष यही है कि उसमें निर्लिप्त सत्य का प्रतिपादन न करके एक राजनीतिक दल की नीति का बोध कराने का प्रयत्न किया गया है और इस प्रवृत्ति की झलक पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ में दिखाई देती है। इसमें सन्देह नही कि नाजी रंग में पूरी तरह से रँगा हुआ अध्यापक अपने दल की नीति को ही सत्य का पर्यायवाची मानता था। परन्तु जर्मन अध्यापको में थोडे-से ही ऐसे थे जो नाजी रंग मे पूरी तरह डूबे हों—वास्तव में किसी भी विशेष प्रकार के राजनीतिक विचारों की कट्टरता थोडे-से ही अध्यापकों में थी, यद्यपि नाजी शासन काल में भी कुछ अध्यापक कट्टर जनसत्तावादी विचारों के थे। परन्तु अध्यापक चाहे नाजी विचारो के समर्थक रहे हों या उनके विरोधी, पढ़ाना तो सभी अध्यापको को वही एक नाजी वृत्ति से लिखी गयी इतिहास पुस्तक पड़ती थी, वही पुस्तक जिसमें असत्य का प्रतिपादन किया गया था—उसमें तथ्यों सम्बन्धी असत्य न होते हुए भी इतिहास का नितान्त असत्य वास्तव स्वरूप प्रस्तुत किया गया था। तथ्य तो प्रायः सही ही है परन्तु उनके निरूपण को पढकर विद्यार्थी के मन पर जो प्रभाव पड़ता था वह गलत और असत्य था।

उदाहरण के लिए हम विवाद के पुराने प्रश्न वाटरलू के युद्ध को ही ले लें। इसके सम्बन्ध में 'डरवेगजम राइख' में निम्न विवरण अंकित है:

'वाटरलू में अंग्रेज कमान्डर-इन-चीफ वेलिंगटन की सेना पर तुरन्त पूरे जोर से आक्रमण करके शीघ्र ही विजयी हो जाने की आशा की। परन्तु वेलिंगटन ने प्रशिया की सैनिक सहायता के वचन पर भरोसा करते हुए, आक्रमण का डटकर सामना किया। तेजी से आगे बढ़ती हुई प्रशिया की सेना युद्ध क्षेत्र तक पहुँचने में सफल हुई और उसने फ्रेंच सेना पर बगली हमला किया। इस सैनिक सहायता के पहुँचने से युद्ध का पांसा पलट गया। नेपोलियन हार गया और उसके बाद जेनेसिन्यू और उसकी सेना पूरी तरह परास्त कर दी गयी।'

इस विवरण में तथ्य सम्बन्धी एक भी गलती नही है, परन्तु उसे पढ़ने से, इसी युद्ध के अंग्रेजों के विवरण से, एकदम भिन्न चित्र उपस्थित होता है । अंग्रेजी विवरण में विजय का श्रेय वेलिंगटन को दिया गया है और उसके अनुसार जर्मन सेना का योगदान इतना ही है कि उसने भागती हुई फ्रेंच सेना का सफाया किया । इस युद्ध के सम्बन्ध में वेलिंगटन की अपनी उक्ति शायद सत्य के सबसे निकट है कि 'मैं युद्ध में हारते-हारते बच गया ।' इसमें सन्देह नही कि युद्ध का जर्मन विवरण अग्रेजों के साथ और अंग्रेजी विवरण जर्मनों के साथ न्याय नही करता ।

वास्तव में अन्य सभी इतिहास पुस्तकों की भाँति 'डरबेगजम राइख' में भी भ्रान्तियों का पोषण तथ्यो की गलतबयानी द्वारा नही अपितु सही तथ्यों में से कुछ के ही उल्लेख द्वारा किया गया है । ब्रिटेन में भी इतिहास के सम्बन्ध में ऐसी गलतबयानी की प्रवृत्तियाँ मौजूद हैं । यहाँ के इतिहास में एक शताब्दी से भी अधिक समय से 'व्हिग' (उदार दल) दृष्टिकोण से विवरण प्रस्तुत करने का झुकाव रहा है । चाहे वे प्रवृत्तियाँ व्हिग हों या नाज़ी, किसी प्रवृत्ति के अनुरूप इतिहास का भाष्य किये जाने में वह अपनी बँधी मान्यताओं के अन्तर्गत सही ही बैठता है और इसलिए यह कहना कठिन हो जाता है कि तथ्य सम्बन्धी गलती कहाँ पर की गयी है । वास्तव में इनमे गलती भ्रान्त मान्यताओं सम्बन्धी ही होती है और इन मान्यताओ के समर्थन मे अर्थों के सूक्ष्म अन्तरवाली शब्दावली के प्रयोग में । उदाहरण के लिए जर्मनी के लोगों का एक बहु-प्रचलित राजनीतिक 'वाद' घिर जाने या घेरे में पड़े हुए होने 'एनसर्किलमेन्ट' का रहा है । 'डरबेगजम राइख' में आद्योपान्त इसका बड़ा ढोल पीटा गया है परन्तु यह कही सुझाया भी नहीं गया है कि घिरे हुए होने में जो असुविधाएँ और कठिनाइयाँ उत्पन्न होती है वे इस दृष्टि से नगण्य हो जाती हैं कि ऐसी घिरी हुई अवस्था में केन्द्रीभूत आक्रामक स्थिति का लाभ भी तो जर्मनी को मिलता है । बीसवी शताब्दी में जर्मनी को फ्रांस, रूस और ब्रिटेन घेरे हुए हैं, सोलहवी शताब्दी में चार्ल्स पंचम को फ्रांस और तुर्की घेरे हुए हैं और इससे ७०० वर्ष पहले स्वयं चार्लेमैंने सैक्सनों, स्लावों और यूर लोगों से घिरा हुआ है ।[१] परन्तु इससे निष्कर्ष क्या निकलता है ? यदि इसके कहने का

१. चार्लेमैंने की अपने शत्रुओं पर विजय और उनके द्वारा चार्लेमैंने का

तात्पर्य यह है कि अपनी अधिकांश सीमाओं पर जर्मनी विदेशों से घिरा है तो यह बात किसी भी विस्तीर्ण समुद्री सीमा रहित देश के सम्बन्ध में उतनी ही सही है जितनी कि जर्मनी के सम्बन्ध में। यदि दूसरी ओर इसका भाव यह है कि किसी निरीह व्यक्ति को उसके शत्रुओं ने जान-बूझ कर चारो ओर से उसे घेर लिया है ताकि वह बचकर बाहर न निकल सके तो यह शिकायत चार्लेमैन, या चार्ल्स पंचम या हिटलर के सम्बन्ध में लागू नही हो सकती।

इस नाज़ी पाठ्य पुस्तक में 'एनर्सकिलमेण्ट' के समान ही अन्य कितने ही शब्दों के अर्थों को नाज़ी हितों की सिद्धि के लिए तोड़ा-मरोड़ा गया है। वार्साई को तो 'जबर्दस्ती थोपी गयी', सन्धि कहा ही गया है, स्तम्भित जर्मनी पर उसके धोखेबाज शत्रुओं ने यह सन्धि स्वीकार करने को उसे विवश किया। इसके साथ ही यही भावना इससे पुराने काल के इतिहास के सम्बन्ध में भी लागू करते हुए 'तिलसितरडिक्टाट' जैसे उल्लेख भी इस पुस्तक में किये गये हैं। सम्पूर्ण इतिहास के सम्बन्ध में इस ढंग का चित्रण किया गया है जैसे जर्मनी के शत्रु दुष्टतापूर्ण उद्देश्यों से प्रेरित थे और स्वयं जर्मनी सीधे और निरीह भाव अपनाये रहे। डच लोगों के विरुद्ध लुई चौदहवें के युद्धों को 'लुटेरों का युद्ध' बतलाते हुए कहा गया है कि इनमें 'जर्मन भूमि' का विनाश किया गया। १६८९ में फ्रांस द्वारा राइनलैण्ड के विनाश का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है और किसी भी युद्ध में जर्मनी द्वारा किसी अन्य देश के विनाश का कोई विवरण ही नही है। कहा गया है कि १९१५ मे इंग्लैण्ड ने जान-बूझ कर युद्ध छेड़ा ताकि वह अपने विश्वव्यापी साम्राज्य को सुदृढ़ बना सके जब कि वह इससे पूर्व १९०४ में जापान को रूस पर आक्रमण के लिए प्रेरित करके और तिब्बत पर अपना अधिकार करके भारत पर रूस के अधिकार के खतरे से निश्चिन्त हो चुका था। इस पुस्तक मे ब्रिटिश साम्राज्य का जो चित्र

आधिपत्य स्वीकार किये जाने की व्याख्या करते हुए पुस्तक में एक नक्शा चित्र दिया गया है। इसमें बोहीमिया को तो जर्मन मानकर कैसर के सामने केवल सर झुकाते हुए दिखाया गया है किन्तु स्लाव को जमीन पर लेट कर साष्टांग दंडवत करता हुआ चित्रित किया गया है।

उपस्थित किया गया है वह ब्रिटिश मान्यताओं से इतना भिन्न और प्रतिकूल है कि उसका एक उद्धरण दे देना ठीक ही होगा :

'अंग्रेजी विश्व साम्राज्य संपूर्ण पृथ्वी पर व्याप्त हो गया। अमेरिका के स्वातंत्र्य युद्ध के बाद इनके पास केवल कनाडा बच रहा था। तब यह अफ्रीका में दृढ़तापूर्वक जम गये और इन्होंने ब्रिटिश दक्षिणी अफ्रीका की स्थापना की। इसके बाद इन्होंने भारत और आस्ट्रेलिया में प्रवेश किया जिससे भारतीय महासागर वस्तुत: ब्रिटेन के अधिकार में आ गया। इसके तुरन्त बाद अंग्रेजी कूटनीति ने पूर्वी एशिया पर अपनी नजर गड़ायी और वहाँ सिंगापुर, हांगकांग, बोर्नियो और न्यूगिनी-जैसे अपने मजबूत अड्डे बना लिये। संसार भर में ऐसे ही दृढ़ अड्डे उसने बना लिये जो ब्रिटिश विश्व-साम्राज्य के आधारभूत खंभे बन गये। सबसे अधिक तो अंग्रेज लोग अपने भारतीय उपनिवेश में अपनी स्थिति अडिग बनाने पर तुले हुए थे। अत: उन्होंने अपने देश से लेकर भारत तक के समुद्री मार्ग को जिब्राल्टर, साइप्रस,अलेगजेंड्रिया और अदन-जैसे अभेद्य नाकों से सुरक्षित कर लिया। भारत के लिए अपने भूमि मार्ग को भी पक्की तरह से सुरक्षित कर लेने के लिए अंग्रेजों ने पैलेस्टाइन और ईराक पर अधिकार करना चाहा। उनके विशाल जहाजी बेड़े की ताकत ने उनके साम्राज्य को सुरक्षा प्रदान की। इस प्रकार ४ करोड़ अंग्रेजो ने अपनी विश्व-प्रभुता स्थापित करके अपने प्रसार के लिए यूरोप से भी तिगुना स्थान प्राप्त कर लिया और ४० करोड से भी अधिक लोगों का स्वामित्व प्राप्त कर लिया। इससे भी अधिक महत्त्व की बात यह हुई कि इस विशाल क्षेत्र में उत्पन्न होने वाला कच्चा माल उनके नियंत्रण में आ गया। इंग्लैण्ड ने अपने यहूदी नियंत्रित व्यवसाय द्वारा चाय, चावल, लकड़ी और रबर के दाम मनमाने ढंग से निर्धारित किये। इस अंग्रेज-यहूदी व्यवसाय बुद्धि ने संपूर्ण संसार पर अपनी प्रभुता जमा ली।'

ब्रिटिश साम्राज्य के इस विवरण के प्रतिकूल जर्मन राइख के विकास को एक पवित्र और आर्थिक अभियान के रूप में चित्रित किया गया है और एडाल्फ हिटलर की तीसरी राइख को तो जर्मन इतिहास की चरम परिणति ही सिद्ध किया गया है। यह संपूर्ण पुस्तक तीन खण्डों में विभाजित है और प्रत्येक खण्ड का मुख्य विषय राइख ही बनाया गया है तथा मध्यकालीन राइख अर्थात् जर्मन राष्ट्र की पवित्र रोमन राइख, छोटी जर्मन राइख के लिए प्रशिया वालों का युद्ध और एडाल्फ

हिटलर की बृहत् जर्मन राइख । इस ढंग के विषय प्रतिपादन के समर्थन में पुस्तक के आवरण पर तीन नक्शे छापे गये हैं । पुस्तक के प्रत्येक खण्ड में मुख्यतया राइख पर ही ध्यान केन्द्रित किया गया है जिसके लिए अनुच्छेदो के शीर्षक इस प्रकार के दिये गये है . क्लोविस के समय मे 'राइख का प्रारम्भ'; कार्लडर ग्रसे ने 'उसको विस्तीर्ण और सुदृढ किया'; हेनरी दि फाउलर ने 'वाल्क्स राइख स्थापित की' और उसकी 'पूर्वी सीमा सुरक्षित की', बार्बरोसा ने 'राइख और कैसरटम' को प्रभुतापूर्ण बनाया ; हेनरी दि लायन ने 'राइख को पूर्व मे मजबूत बनाया'; मध्ययुग मे जर्मन किसानो ने 'राइख और यूरोप को अपना समर्थन प्रदान किया'; हैप्सबर्ग के समय मे 'राइख की शक्ति की अवनति हुई'; रिनेसा और रिफार्मेशन के समय में 'उसकी जडे हिल गयी', 'वेस्टफालिया की सधि ने राइख को टुकड़े-टुकडे कर दिया'; 'प्रशिया ने राइख के नेता का पद प्राप्त किया'; नेपोलियन के समय में 'राइख का अस्तित्व ही समाप्त हो गया'; उन्नीसवी शताब्दी मे 'आस्ट्रिया उसकी एकता मे बाधक बना' दूसरी ओर 'प्रशिया ने राष्ट्रीय एकता को सगठित करने का प्रयत्न किया', 'बिस्मार्क छोटी जर्मन राइख का निर्माता था ।' पुस्तक के शेष दो बटे पाँच अश में एडाल्फ हिटलर के उद्भव और 'उसकी' राइख का विवरण ही मुख्यतया दिया गया है ।

इनमे से एक भी शीर्षक ऐसा नही है जिसे एकदम गलत कहा जा सके परन्तु इन सबके सम्मिलित प्रभाव से पाठको के सामने जर्मन इतिहास का अत्यन्त असंतुलित चित्र प्रस्तुत होता है ।

समय-समय पर एक-न-एक 'राइख्स फियेड' अर्थात् जर्मन साम्राज्य के शत्रु की बात इस इतिहास मे प्रस्तुत की जाती है । पूर्व मध्यकाल मे यह शत्रु स्लाव लोग बतलाये गये है; आधुनिक समय मे इसका दोषी फ्रेंच लोगो को ठहराया गया है और यहूदी लोग तो इतिहास के सभी समयो मे 'वोक्स फियेड' अर्थात् जनता के दुश्मन बतलाये गये हैं । यद्यपि इन यहूदियों को इनकी अलग बस्तियो में ही बसने दिया जाता है फिर भी ये 'सब कही अपना प्रसार कर लेते हैं', अपने व्यापार मे मुनाफा कमा लेते हैं और 'बड़ी बेशरमी से सूदखोरी करते हैं. . . कभी-कभी तो १७४ प्रतिशत तक सूद लेते हैं ।' फ्रेंच क्रान्ति से स्पष्ट हो गया कि यहूदियो को बराबरी का अधिकार देना खतरनाक बात है, इसी से 'इन्हे फ्रेंच लोगों पर अपना

कुप्रभाव डालने का अवसर प्राप्त हुआ ।' उन्नीसवी शताब्दी मे 'यहूदी लोग खुले तौर से और कटिबद्ध होकर राइख की एकता नष्ट करने के लिए प्रयत्नशील हुए'; 'अपनी अपार सम्पत्ति के कारण इन्हें शरीफ और ऊँचे खानदानों में शादी-ब्याह करने की सुविधा हुई' और 'इन्होंने सरकारी नौकरियों, समाचारपत्रो तथा राजनीति में प्रवेश पा लिया और कला-क्षेत्र मे अपना प्रभुत्व जमा लिया ।' मार्क्स 'एक यहूदी पादरी का लड़का था ' और उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम भाग में तथा बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में यहूदी प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में व्यापक हो गया तथा उसने 'संसार भर पर अपना प्रभाव जमाने का प्रयत्न किया ।' उसने जर्मनी के विरुद्ध 'युद्ध अग्रसर करने' का भरपूर प्रयत्न किया; १९३० के बाद के दशक में उसने 'स्पेन पर अधिकार का प्रयत्न करके पश्चिम की ओर से जर्मनी को पूरी तरह से फेर देना चाहा'; और इसी प्रकार पहले विश्वयुद्ध में उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण वाले प्रेसीडेन्ट विल्सन को प्रभावित किया था उसी प्रकार द्वितीय विश्व महायुद्ध मे 'यहूदियो ने सहज मे ही प्रभावित हो जाने वाले प्रेसीडेन्ट रूजवेल्ट पर अपना असर डाला ।' परिणाम यह हुआ कि धुरी राष्ट्रो के विरुद्ध अंग्रेजी-यहूदी गुटबन्दी के अभियान को अमेरिका का भी समर्थन मिल गया ।

इस विवरण में भी पृथक् रूप से देखने पर एक भी वाक्य ऐसा नही मिलेगा जिसे एकदम झूठ कहा जा सके । फिर भी इस विवरण द्वारा निश्चय ही झूठ का एक ढांचा खड़ा कर दिया गया है जिसकी चरम सीमा नाजीवाद के इतिहास के विवरण में देखने को मिलती है । पहले तो यह किया गया है कि प्रारम्भ से लेकर बीसवी शताब्दी तक का संपूर्ण जर्मन इतिहास जितने विस्तार में दिया गया है उसका एक चौथाई अंश हिटलर और नाजी दल के कार्यों के सम्बन्ध मे है । नाजी दल का पूरा कार्यक्रम छोटे अक्षरों मे पूरे दो पृष्ठों मे छापा गया है । मोटे-मोटे अक्षरों मे उन १६ नाजियों के नाम छापे गये है जो १९२३ के असफल क्रान्ति प्रयत्न में मारे गये थे । इसका अर्थ यह है कि सम्पूर्ण फ्रेंच राज्य क्रान्ति या १८४८ की घटनाओ के विवरण को पुस्तक मे जितना स्थान दिया गया है उससे अधिक स्थान एक दिन के असफल विद्रोह में मारे गये अज्ञात १६ व्यक्तियो की प्रशस्ति में लगाया गया है । वीयर शासन के १४ वर्षों का विवरण ४ पृष्ठों में और नाजी शासन के ७ वर्षों का विवरण ४७ पृष्ठों में दिया गया है । हिटलर के जीवन का वर्णन बड़े

विस्तार के साथ किया गया है और गोरिंग की जीवनी को अपेक्षाकृत कम महत्त्व देते हुए भी, सम्राट् जोसेफ द्वितीय, उदाहरणार्थ, की अपेक्षा कही अधिक विस्तार से दिया गया है ।

इसी काल के सैनिक इतिहास का वर्णन पुस्तक में प्रमुख रूप से किया गया है । इसका एक कारण तो, निश्चय ही, यह भी है कि नाजी विचारधारा में युद्ध और सैनिक संघर्ष को विशेष महत्त्व प्राप्त है । परन्तु ऐसा विवरण वहाँ के प्रचार पत्र की प्रवीणता के कारण भी किया गया है । बच्चो को लड़ाई और संघर्ष के विवरण विशेष रूप से प्रिय होते हैं और इस पुस्तक में सैनिक प्रेरणा देने का प्रयत्न खास तौर से किया गया है और ऐसी बातो के सम्बन्ध मे भी जो युवा पाठकों को रुचिकर हो । यद्यपि इस पुस्तक का प्रकाशन युद्ध काल की विशेष आर्थिक कठिनाइयो के समय मे हुआ है फिर भी इसे नाजी काल के पहले के प्रकाशनों की अपेक्षा अधिक सज-धज के साथ छापा गया है । पुस्तक के टाइप सरलता से पढ़े जानेवाले हैं और विषय के महत्त्व के अनुरूप ही छोटे-बड़े टाइपो का इस्तेमाल किया गया है । शीर्षक छोटे और रोचक हैं जिन्हे आसानी से याद रखा जा सके । उसमें कितने ही चित्र, नक्शे और रेखाकन दिये गये हैं और मुख्य विषय को प्रतिपादित करने के अनुरूप उन्हें चित्रकारी से सजाया गया है । सबसे बड़ी बात तो यह है कि पुस्तक का विस्तार असीमित नही रखा गया है जब कि इससे पहले की अधिकाश जर्मन पाठ्य पुस्तको में विवरणो के अति विस्तृत होने का दोष सामान्यतया दिखाई देता है । सपूर्ण जर्मन इतिहास का वर्णन केवल २५० पृष्ठो मे कर दिया गया है ताकि विद्यार्थियो को प्रतिदिन अपने घर पर २–३ पृष्ठो से अधिक पढने का परिश्रम न करना पड़े । इससे पहले की जर्मन पाठ्य पुस्तको (और बाद में प्रकाशित होने वाली पुस्तको में भी) एक विशेष दोष यह था कि उनमें बच्चों के दिमाग मे तमाम अप्रासगिक बातें ठूंसने का प्रयत्न किया जाता था । परन्तु यह पुस्तक ऐसे दोष से सर्वथा मुक्त है । नाजी शासनकाल के त्रस्त इतिहास अध्यापक को 'राइख का मार्ग' नाम की यह पुस्तक बड़ी ही सुगम लगी होगी ।

और यह पुस्तक नाजी नीतियो के प्रचार का एक सुगम मार्ग होने के साथ ही ऐसी नहीं थी कि अधिकाश जर्मन शिक्षको को यह प्रचार पुस्तिका दिखाई पड़े । दूसरे लोगो को यह पुस्तक अधिकाश में स्तम्भित कर देने वाली भले ही लगे किन्तु

जर्मन लोगों को इसमें वही बातें दिखाई पड़ी जिनसे वे चिरपरिचित थे। इसमें नाज़ियों की ऐतिहासिक प्रशस्ति के नये राग नहीं अलापे गये अपितु पुराने और जर्मन लोगों के चिरपरिचित रागों को अधिक उच्च और समवेत स्वर से गाया गया तथा बेसुरी बातो को छोड़ दिया गया। इतिहास के बारे मे नाज़ी शिक्षा मुख्यत: नाज़ीवादी नहीं है। वह जर्मन है और उसका अधिकांश नाज़ीवाद के जन्म के पहले प्रकाशित जर्मन इतिहास पुस्तकों में मौजूद है। नाज़ी पाठ्य पुस्तकों के स्वर वीयर काल की पुस्तकों की तुलना में अधिक कठोर हैं जिन्हें विजयी मित्र राष्ट्रों ने १९४५ में फिर से पाठ्यक्रम में निर्धारित किया। फिर भी स्ट्रेसमैन की जर्मन भावना हिटलर जैसी ही दृढ थी। बेकर, जो १९२५ से १९३० तक प्रशिया का शिक्षा मंत्री था, नाज़ी काल के शिक्षा मंत्री की अपेक्षा कहीं अधिक देशभक्त था। बेकर के मंत्रित्व मे प्रशिया की इतिहास पुस्तकें जर्मनी के इतिहास के शिक्षको को अपने अध्यापन मे ऐसी ही बातो पर जोर देने का अनुरोध कर रही थी जैसे जर्मनी का घेरे की अवस्था में होना, जर्मन जाति का औरों से श्रेष्ठ होना, यूरोप पर उसका प्रभुत्व स्थापित होने का औचित्य और नेता के प्रति अंधभक्ति का सिद्धान्त ('फ्यूह-ररटम') जो हिटलर के काल के बहुत पहले से ही जर्मन लोगो के लिए प्रिय था। यदि 'डरवेगजम राइख' ने १९३९ में यह प्रतिपादित किया कि महायुद्ध इंग्लैण्ड ने ही छेड़ा तो वीयर रिपब्लिक काल की पाठ्य पुस्तकों ने जर्मन लोगों को यह पाठ पढाया कि १९१४ मे 'बर्लिन में युद्ध करने की कोई इच्छा नही थी' और 'इस समय जर्मनी के भीतर और उसके बाहर के प्रत्येक जानकार व्यक्ति को मालूम है कि महायुद्ध छिड़ने के सम्बन्ध में जर्मनी सर्वथा निर्दोष है तथा रूस, फ्रांस और इंग्लैण्ड ही युद्ध चाहते थे और उन्होंने ही महायुद्ध प्रारम्भ किया।' इसी काल में जर्मन पुस्तकों में इस बात पर जोर दिया जाता था कि एलसास क्षेत्र प्रमुखतया जर्मन है (जनसंख्या की दृष्टि से यह बात ठीक थी परन्तु संस्कृति की दृष्टि से नही) और लोरेन क्षेत्र के सम्बन्ध में यही स्थिति लागू होने की बात लोगों के अनुमान कर लिये जाने के भरोसे छोड़ दी जाती थी। पुस्तकों का एक और प्रिय विषय था पोलैण्ड पर जर्मनी का अधिकार किया जाना। इस सम्बन्ध मे जातिगत अधिकारों की दुहाई नही दी जाती थी। जिस क्षेत्र के रहने वाले लोग जर्मन थे वह तो जर्मनी का होना ही चाहिए। परन्तु यही सिद्धान्त अन्य देशों के सम्बन्ध में लागू नही किया

जाता था। पोलैण्ड के सम्बन्ध मे यह कहा गया था कि पोल लोगो ने अपनी शासन-व्यवस्था ठीक ढंग से नहीं चलायी थी और उसके विभाजन के बाद वहाँ लागू हुए जर्मन शासन ने पोलैण्ड को उपेक्षित और अव्यवस्थित अवस्था से उठा कर उसे खेती और उद्योगो की दृष्टि से स्वर्ग बना दिया था। अतः पोलैण्ड पर जर्मन अधिकार किया जाना उचित था। १८९९ के हेग सम्मेलन के सम्बन्ध में यह कहा गया था कि उसमें निरस्त्रीकरण प्रस्तावों को कैसर विलियम ने नही विफल किया। वास्तव मे सभी राष्ट्रो ने इन प्रस्तावो के प्रति उदासीनता दिखलायी, केवल जर्मनी ने ही यह बात स्पष्ट रूप से स्वीकार करने की ईमानदारी दिखलायी। इन सभी बातों से वीयर काल की पुस्तकें न केवल तीसरी राइख के समय मे प्रकाशित हुईं पुस्तको के विचारों का पूर्वाभास दे रही थी अपितु दूसरी राइख काल के विचारो को प्रतिध्वनित कर रही थी। उस समय की पुस्तकें कैसर के सम्बन्ध में वैसी ही प्रशसापूर्ण थी जैसी कि बाद के समय की पुस्तकें हिटलर के सम्बन्ध में—या जैसी कि ब्रिटिश पुस्तकें इससे पहले ही मलका विक्टोरिया की प्रशस्ति से युक्त प्रस्तुत हो चुकी थी।

× × ×

नाज़ी सत्ता के पतन और १९४५ में पुस्तको के विशाल होलिकादहन के बाद जर्मनी के नये शासको को, पश्चिम के अपने साथी राष्ट्रों के समान ही, इतिहास की पुस्तको के सम्बन्ध मे तात्कालिक व्यवस्था की आवश्यकता हुई ताकि नयी और संतोषजनक पुस्तके तैयार किये जाने तक इतिहास की पढाई का कामचलाऊँ इन्तजाम हो सके। हम देख ही चुके है कि पश्चिमी मित्र राष्ट्रो ने, पार्लमेन्टरी जनसत्तात्मक पद्धति के प्रति अपनी डगमगाती हुई आस्था के साथ, बीयर काल की इतिहास पुस्तकों का पढाया जाना प्रचलित किया। इसी प्रकार पूर्वी जर्मनी ने, रूसियो ने कामचलाऊँ व्यवस्था के रूप में उन समाजवादी विचारो की पुस्तकों का सहारा लिया जो नाज़ी काल के पहले लिखी गयी थी। इनमें से सबसे अधिक उपयोगी पुस्तकें प्रथम विश्व महायुद्ध के पहले की लिखी हुई थी जब जर्मन समाज-वाद अपने चरम वैभव पर था। १९४७ में मेहरिंग की सन् १९१० में लिखित पुस्तक 'मध्यकाल की समाप्ति के बाद से जर्मनी का इतिहास' का नया स्कूली संस्करण प्रकाशित किया गया। सन् १९२७ में प्रतिपादित बोल्शेविक सिद्धान्तों

से ७ वर्ष पहले के विचार इसमें प्रतिपादित थे। फिर भी इसके द्वारा समाजवादी सिद्धान्तों के पढ़ाये जाने की कामचलाऊ व्यवस्था सम्भव थी और इसमें पारिभाषिक शब्दो (अधिकांश में राजनीति सम्बन्धी) की सूची तथा जीवनी सम्बन्धी अनुक्रमणिका नये सिरे से जोड़ कर इसका स्वरूप बोल्शेविज्म समर्थक बना दिया गया।

मेहरिंग की मूल पुस्तक युगान्तरकारी-जैसी थी। इतिहास को विरुदावली का रूप देने की प्रवृत्ति के विरुद्ध बढ़ती हुई प्रतिक्रिया की बानगी तो उसमें मौजूद ही थी परन्तु इसके साथ ही उसमे इतिहास के उस स्वरूप का भी विरोध था जो ब्रिटेन में 'व्हिग' (उदारदलीय) चित्रण कहा जाता है, अर्थात् इतिहास का स्वाभाविक ध्येय पार्लमेन्टरी जनसत्तात्मक पद्धति की प्रशस्ति लिखना हो। उदाहरण के लिए मेहरिंग ने 'रिफार्मेशन' को राजाओं के अधिकारों से पार्लमिन्टों का मुक्त होना नही माना अपितु उसे सामन्तवादी जीवन तथा समाजवादी जीवन के बीच की पूँजीवादी और बुर्जुआ अन्तर अवस्था बतलाया। सत्रहवी शताब्दी की ब्रिटेन की क्रान्ति और अठारहवी शताब्दी की फ्रेंच क्रान्ति के सम्बन्ध में भी पुस्तक मे यही भाव व्यक्त किया गया। इन सब बातों को उन्नीसवी और बीसवी शताब्दी की मजदूरों की वास्तविक क्रान्ति और समाजवादी जीवन की स्थापना का पूर्व रंग और प्रारम्भ कहा गया। इसके अनुसार लूथर की अपेक्षा किसानों की क्रान्ति अधिक महत्त्वपूर्ण थी और लुई नेपोलियन की अपेक्षा लुई बयांक का महत्त्व अधिक था। इसके अलावा सामाजिक इतिहास तथा साहित्यिक विचारधारा के इतिहास को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया जो १९१० की इतिहास पुस्तकों में साधारणतया नही मिलता था। इसमें लेसिंग, गेटे, कान्ट आदि के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक मूल्याकन किये गये थे। कुल मिलाकर यह विवेचन तटस्थ भाव से और औचित्यपूर्ण ढग से किये गये थे। इनमें ऐसी शायद ही कोई बात रही हो जिनके सम्बन्ध में पश्चिमी विचारकों को आपत्ति हो सके।

परन्तु रूसी क्रान्ति के ३० वर्ष बाद जब स्कूलों में पढ़ाने के लिए इसका नया संस्करण जारी किया गया तो इसे समय के अनुरूप बनाने की आवश्यकता हुई। इसमें नयी परिशिष्टियाँ जोड़ी गयीं, और यह काम स्वयं मेहरिंग ने नहीं किया बल्कि जल्दबाजी के लिए आतुर १९४५ के नाजी विरोधियों ने। परिणामत: परिशिष्टियों का रूप नितान्त प्रचारवादी है। इनके अनुसार लेसिंग और कान्ट

'बुर्जुआ' है, गेटे एक ड्यूक का आश्रित था जिसने 'फ्रेंच क्रान्ति का विरोध किया' क्योंकि वह 'उसी समय प्रारम्भ होने वाले बुर्जुआ युग को बिलकुल ही नही समझता था ।' हीन पर 'मार्क्स' की मित्रता का प्रभाव पड़ा । हीगल की मुख्य विशेषता यह थी कि 'उसने तत्त्व विवेचन के सिद्धान्तों की खोज की और सबसे पहले उनका विवेकपूर्ण प्रयोग किया । पुस्तक में जोड़े गये शब्दकोश में 'डेमाक्रेसी' का अर्थ इस प्रकार समझाया गया है इसका शब्दार्थ तो है "जनता का प्रभुत्व" परन्तु पूँजीवादी देशों में यह पार्लमेन्टरी पद्धति से स्थापित पूँजीवादी प्रभुत्व होता है । सच्ची 'डेमाक्रेसी' तो तभी सम्भव है जब राजनीतिक सत्ता श्रमिक वर्ग के हाथो में हो ।

किसी स्कूली पाठ्य पुस्तक में ऐसे विवरणो का होना एक विशेष प्रवृत्ति के प्रति पक्षपात करना है । परन्तु ब्रिटिश इतिहास के महान् व्यक्तियों के इस पुस्तक में दिये विवरणो की तुलना में यह पक्षपात नगण्य-जैसा है । पुस्तक के जीवन परिचय वाले अश में से तीन विवरण नीचे अविकल रूप से दिये जाते हैं :

डार्विन, सी. आर. (१८०९–१८८२) इंग्लैण्ड का एक महान् जीव विशेषज्ञ । 'वर्गयुद्ध के ऐतिहासिक सिद्धान्त (मार्क्स) का वैज्ञानिक आधार डार्विन की विकासवाद के सिद्धान्त की प्रतिस्थापक रचनाओं से प्राप्त होता है ।'

यहाँ तक कहना तो उचित ही है । विकासवाद की भावना प्राणिशास्त्र और राजनीति दोनो में ही व्याप्त है और डार्विन की रचनाओं ने राजनीतिक विकास में भी योगदान दिया । परन्तु क्या उसका योगदान और किसी भी क्षेत्र में नही है तथा केवल राजनीति तक ही सीमित है जैसा कि ऊपर के विवरण मे सुझाया गया है ?

अब दूसरा उदाहरण लीजिए

मिल्टन, जान (१६०८–१६७४) · इंग्लैण्ड की क्रान्ति का कवि,

बस केवल इतना ही, अंग्रेजी साहित्य के महान् धार्मिक प्रबन्ध काव्यो के बारे में एक शब्द नहीं, 'प्योरिटन' भावनाओं के बारे में या मिल्टन के प्रारम्भिक गीतों के बारे में कोई उल्लेख नहीं । इतिहास में मिल्टन का स्थान केवल राजनीतिक दायरे में सीमित कर दिया गया है । और अन्त में शेक्सपियर के बारे में दिये गये विवरण मे तो प्रचार की कलम ही तोड दी गयी है । देखिए :

शेक्सपियर, विलियम (१५६४–१६१६) अंग्रेज कवि, विश्व साहित्य के सर्वश्रेष्ठ नाटक लेखकों में से एक। अपने ग्रन्थ उस जमाने में लिखे जब वस्तुओं का उत्पादन बढ रहा था, सामन्ती व्यवस्था, बुर्जुआ व्यवस्था में बदल रही थी और अंग्रेजी की व्यापारिक प्रभुता का प्रारम्भ हो रहा था। मार्क्स और एन्जील्स इसके बड़े प्रशंसक थे।

यह उस कोटि के इतिहास का बेजोड़ नमूना है जिसमें प्रत्येक बात सही कही जाय किन्तु साथ ही जो असत्य से ओतप्रोत हो।

× × ×

हमें इस बात का ध्यान निरन्तर रखना है कि 'सच' और 'झूठ' का अर्थ विभिन्न लोगो के लिए एक-जैसा नही बल्कि भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। नाजी, फासिस्ट और कम्यूनिस्ट प्रचारकों का विश्वास है कि वे झूठ का नहीं अपितु सही बात का ही प्रतिपादन करते हैं। ऐसी स्थिति मे यह आशा नही रखनी चाहिए कि उनके प्रचार का दृष्टान्त उनके सामने रखकर उनको खेद अथवा लज्जा का अनुभव कराया जा सके। उन्हें अपने पक्ष को छिपाने या उस पर लज्जित होने का कोई कारण ही नही दिखाई देता। रूसियों ने सामान्य से भिन्न नीति अपना कर स्कूलो में इतिहास का अपने ढग से उपयोग करने के लिए पश्चिमी यूरोप के लिए इतिहास पुस्तकों का अनुवाद करा के उन्हें प्रकाशित किया है। रूसी माध्यमिक स्कूलों के लिए स्वीकृत इतिहास पाठ्य पुस्तक तथा विभिन्न प्रकार के सरकारी आदेशो के अंग्रेजी अनुवाद उपलब्ध हैं। इनको पढ़ने से अच्छी तरह से पता चलता है कि रूस की सरकार अपने इतिहास अध्यापकों से किस प्रकार की पढ़ाई की अपेक्षा करती है।

सबसे पहले पाठ्य पुस्तक पर ही ध्यान दीजिए।[1] यह तीन खण्डो मे है और सचित्र है। किसी कारण से इसमे नक्शे नही दिये गये हैं। पहले खण्ड में १६४० तक का इतिहास दिया गया है। कारण यह कि कम्यूनिस्टो की दृष्टि में इंग्लैण्ड के गृहयुद्ध का विश्वव्यापी महत्त्व है; वह इतिहास के 'सामन्ती' युग की समाप्ति

१ 'ए हिस्ट्री आफ़ दि यू. एस. एस. आर.' ए. एम. पैनक्राटोवा द्वारा संपादित, फारेन लैंग्वेज पब्लिशिंग हाउस, मास्को, १९४८।

की सीमारेखा है । दूसरे खण्ड में १९०० ई० तक का इतिहास दिया गया है । इस काल-विभाजन से बीसवी शताब्दी में लेनिनवाद के प्रारम्भ के विवरण के लिए मैदान साफ कर दिया गया है ।

अध्यापकों को अपने अध्यापन कार्य के लिए यह पुस्तक अत्यन्त अपर्याप्त सिद्ध होगी । इसका आकार-प्रकार आकर्षक नही है, स्कूली बच्चो के लिए यह पुस्तक बहुत बडी है और इसकी भाषा तथा विचार-प्रवाह सामान्य स्कूली बच्चो की क्षमता की दृष्टि से क्लिष्ट है । इसमे असम्बद्ध घटनाओ को एक सूत्र में बाँधा गया है और कही-सुनी गाथाओ को बिना विवेचन किये इतिहास का रूप दे दिया गया है । बढ़ा-चढ़ाकर और गलत ढग से कही गयी बाते सम्पूर्ण पुस्तक मे मौजूद है । वास्तव में यह उसी स्तर की इतिहास पुस्तक है जैसी इंग्लैण्ड में विक्टोरिया काल के अन्तिम-चरण की इतिहास पुस्तकें थी ।

कम्यूनिस्टो का दावा है कि ये पुस्तकें निरपेक्ष दृष्टिकोण से तथा तथ्यपूर्ण ढंग से लिखी गयी है । गैर-कम्यूनिस्टो को यह ऊपर के दावे से सर्वथा भिन्न दिखाई देंगी । पहली बात तो यह है कि इनके पाच लेखको का दृष्टिकोण ही प्रचारवादी है । बच्चो की भावनाओ को जिस ढंग से उभाडा गया है उसे हम लोग अनुचित ही मानेंगे । हर जगह 'वीर रूसी सैनिक' कायर विदेशी सैनिको को बराबर खदेडते हुए दिखाये गये है, यदि कही रूसी सैनिको की पराजय का उल्लेख किया गया है तो ऐसा सेना के कमाण्डरो की गलती से हुआ है जो कि 'शोषक वर्ग' के है । यह प्रवृत्ति १९१७ तक के विवरण के सम्बन्ध मे है । इस समय के बाद के विवरणो में रूसी सेनाओ को अपने से कही बडी सख्यावाली सेनाओ का सामना करने की मजबूरी का उल्लेख भले ही मिलता हो परन्तु सैनिको या कमाण्डरो को कही भी दोषी नही बतलाया गया है ।

देशभक्ति की भावना को बनावटी ढग से दृढ करने का प्रयत्न और भी कई प्रकार से किया गया है । हर एक युद्ध में रूस का चित्रण सभ्यता को विनाश से सुरक्षित रखनेवाले त्राता के रूप में किया गया है । 'तातार आक्रमण का धक्का बर्दाश्त करनेवाला' रूस ही था । 'अगस्त १८०५ में यूरोप में रूसी सेनाओ के प्रवेश करने से ही नेपोलियन की ब्रिटिश खाडी को पार करके आक्रमण की योजना विफल हुई और इंग्लैण्ड उसके आक्रमण से बच गया ।' १८१२ के जाड़ों में नेपोलियन की

हार सर्दी के अत्यधिक होने के कारण नहीं हुई—'मौसम तो साधारण और बर्दाश्त के योग्य था. . . नेपोलियन की हार रूसी राष्ट्र के मनोबल, रूसी सेना के अनुपम शौर्य और दृढ़ता तथा सम्पूर्ण रूसी राष्ट्र द्वारा अपनी सेना के समर्थन की लगन के कारण हुई।' १९१४ में 'रूस ने युद्ध का वास्तविक प्रहार स्वयं झेलकर अपने मित्र राष्ट्र फ्रांस को पराजित होने से बचा लिया।' '१९४१ में सोवियट यूनियन वस्तुत अकेले ही, बिना किसी अन्य देश की सहायता के, जर्मनी से लड़ा।' 'चर्चिल, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हीन स्वार्थों की पूर्ति के लिए तुला हुआ था और उसने दूसरा मोर्चा न खोलने के लिए हर प्रकार के उपाय अपनाये जिससे हमारे राष्ट्र की अधिक-से-अधिक हानि हुई। . . . सोवियट सेनाओ की सफलताओ ने उत्तरी अफ्रीका और इटली में मित्र राष्ट्रो की सैनिक विजय मे निश्चित योगदान किया।'

सभ्यता के प्रति अपने योगदान का वर्णन प्रत्येक देश बढा-चढाकर करता है, परन्तु इन पुस्तको मे तो कभी-कभी ऐसा दावा प्रस्तुत किया जाता दिखाई देता है कि सभ्यता पर रूस का ही एकाधिकार हो। यह कोई शिकायत की बात नही हो सकती कि विद्यार्थियो को पाठ्य पुस्तको द्वारा अपने देश के प्रति गर्व और भक्ति का पाठ पढ़ाया जाय और उन्हे रूसी जाति के गौरवपूर्ण अतीत या रूसी विद्वानों, अन्वेषको या पर्यटको के अग्रणी होने का बोध कराया जाय। सन् १९५२ के सरकारी पाठ्य क्रम में यह दावा किया गया है कि 'बहुत-से क्षेत्रो में रूसी सास्कृतिक प्रमुखता प्रतिपादित करना विदेशी चीजो के प्रति श्रद्धालु होने के खतरे के निराकरण का महत्त्वपूर्ण उपाय है।' इस कथन मे हीनता की भावना से त्रस्त होने की बड़ी स्पष्ट झलक मिलती है। परन्तु इस प्रक्रिया की तो हद ही कर दी गयी है। ऐसे रूसी वैज्ञानिको को विभिन्न प्रकार की उन्नति का अग्रणी बतलाया गया है जिनका विज्ञान के इतिहास सम्बन्धी अंग्रेजी पुस्तको में कही नामोल्लेख भी नही मिलता। लोमोनोसोव ने ही 'सबसे पहले यह सिद्ध किया कि कोयला वनस्पति से बनता है' और वे ही 'कन्जरवेशन आफ मास' सिद्धान्त के प्रथम प्रतिपादक थे जिसे बाद में 'लेवोईसियर ने पुनः खोज निकाला; 'धरती के तल के ऊपर-नीचे स्पंदित होनेवाले क्रम को उन्होंने यंग से ६० वर्ष पहले ही खोज निकाला था'; 'हर्शेल से ३० वर्ष पहले ही यह खोज लिया था कि शुक्र ग्रह पर अन्तरिक्ष मौजूद है'; और 'नानसेन से

१३५ वर्ष पहले आर्कटिक सागर के प्रवाह की दिशा बतला दी थी'। पेट्रोव ने 'निकलसन और कार्लिसिल से पृथक् रूप में ही बिजली द्वारा पदार्थों के विलयन सम्बन्धी विज्ञान की खोज की थी' तथा 'डेवी से कई वर्ष पहले "वोल्टेई आर्क" की रचना की थी।' 'शिलिंग ने १८३२ में ही पीटर्सबर्ग में सबसे पहले बिजली और चुबकीय तार व्यवस्था का निर्माण किया था।' जैकोबी ने सबसे पहले विद्युत् नौका बनायी। मेण्डेलेयीव ने 'आकाश के ग्रहो के चलनक्रम और तत्त्वो की क्रमिक व्यवस्था की खोज की।' और इसके साथ ही विज्ञान में भी राजनीति का रंग चढ़ाते हुए कहा गया है कि 'मार्क्स और एंजील्स ने मेन्डेलेयीव की खोज को बहुत महत्त्वपूर्ण माना जिसे वे समाजवादी दर्शन की बहुत बडी विजय मानते थे।' 'बेतार के सचार द्वारा सवाद भेजने की खोज का यश पोपोव (१८९५) को प्राप्त है'; 'ससार में सबसे पहले बिजली के आर्कलैंप का ईजाद येब्लोचकोव ने किया;' 'बिजली का दीप्तिमान् लैम्प सबसे पहले लेडीगिन ने बनाया।' रूस में ही 'हवाई यात्रा सम्बन्धी विज्ञान का सबसे पहले जन्म हुआ और मोफैस्की ने १८८० मे सबसे पहला हवाई जहाज बनाया। स्तियोल्कोवस्की के पहले जेपलिन ने निर्माण के दस वर्ष पूर्व ही वाछित दिशा में उडनेवाला गुब्बारा बनाया और उन्होने जेट पद्धति से चलने वाले एंजिन के वैज्ञानिक सिद्धान्त निर्धारित किये।' और अब यह बात भी सुन लीजिए, चाहे आप उसे स्वीकार करे या न करें, कि युद्ध में घायलो की सेवा-सुश्रूषा के काम का प्रारम्भ फ्लोरेस नाइटेगेल ने नही अपितु 'दाशासेवास्तो-पोल्सकाया' ने किया था। निश्चय ही इनमें से कोई एक या सभी दावे निराधार नही कहे जा सकते, कुछ तो निश्चय ही सही है। जो परस्पर विरोधी विवरण रूस में तथा पश्चिमी यूरोप में प्रचलित है उनमें तथ्यातथ्य का निश्चय विशेषज्ञ ही कर सकते है। परन्तु एक साथ किये गये इतने अधिक दावो पर आँख बन्द करके विश्वास कर लेना कठिन ही होगा। यह अवश्य है कि स्पुटनिको का निर्माण कर लेने के बाद रूसी विज्ञान के दावो का पश्चिमी यूरोप मे आसानी से विश्वास किये जाने की सम्भावना बहुत बढा दी है।

यह सब प्रचार (उचित हो या अनुचित) विभिन्न प्रकार के दावे उपस्थित करके किया गया है। इसकी पुष्टि तो और भी अवांछनीय प्रचार साधनों द्वारा की गयी है अर्थात् तथ्यों की उपेक्षा या उनका रूप विकृत करके। हर जगह पक्षपात-

पूर्ण विशेषणों का प्रयोग किया गया है और बच्चों के शिक्षण की दृष्टि से भी इन विशेषणों का बार-बार दुहराया जाना बुरी तरह खटकता है। प्राचीन, मध्य-कालीन और आधुनिक इतिहास के विवरणों में 'मेहनत से पिसने वाले मजदूर', 'शोषित जनसमूह', 'दास बनाकर रखने वाले वर्ग', 'लुटेरे साम्राज्यवादी' तथा इसी प्रकार के अन्य कितने ही विशेषणो का प्रयोग बारम्बार किया गया है। प्राय: एक ही जैसा भाव व्यक्त करनेवाले विभिन्न शब्दो के अर्थों के बारीक भेद के सहारे भ्रान्ति के प्रचार का बीज बो दिया गया है। उदाहरणार्थ पोलैण्ड के बँटवारे का वर्णन करते हुए कहा गया है कि आस्ट्रिया उसे 'जीतना' चाहता था, प्रशिया उसे 'अपनी सीमा में मिला लेना चाहता था'...और रूस पोलिश क्षेत्र को 'पुन: प्राप्त करना' चाहता था। राजनीति में प्रचार का उचित पुट देने का कोई भी अवसर हाथ से नही जाने दिया गया है। ट्राट्स्की और ट्राट्स्कीपथी 'लुटेरे' और 'बुर्जुआ'; 'देशद्रोही' और 'नकली राष्ट्रवादी' कहे गये है। स्टालिन को बराबर 'कामरेड' कहा गया है और १९४८ मे प्रकाशित इन पुस्तको मे स्टालिन को मार्क्स, एन्जील्स तथा लेनिन के समकक्ष स्थान दिया गया है। उस समय प्रभुता के पद पर आसीन होने के कारण स्टालिन की जीवनी पुस्तक में एक पृथक् पाठ के रूप में की गयी है जब कि लेनिन की जीवनी को पुस्तक मे यह सौभाग्य प्राप्त नहीं है। व्यक्ति पूजा की कुख्यात प्रणाली अतीत के इतिहास के सम्बन्ध में भी अपनायी गयी है और ईवान चतुर्थ, पीटर महान् तथा कैथरीन महान् जैसे मध्यकालीन राजपुरुषो का बड़ा गुणगान किया गया है। परन्तु १९५६ में इन सबकी और साथ ही स्टालिन की भी उपेक्षा कर दी गयी और अध्यापको से कहा गया कि इनके व्यक्तित्व की प्रशसा के पक्ष पर जोर न दिया जाय।

१९५६ में जो स्टालिन विरोधी प्रतिक्रिया व्याप्त हुई उसका प्रभाव इतिहास की स्कूली पुस्तकों पर ही नही बल्कि इस विषय के उच्च ग्रन्थों पर भी पड़ा। ऐतिहासिक समीक्षा की 'वो प्रोसी इस्टोरी' नामक विशिष्ट पुस्तक की कड़ी आलो-चना की गयी। आलोचको ने कहा कि उसमें १९०५ से १९१७ तक की अवधि का विवरण देने में 'मेनशेविकों' के प्रति पक्षपात किया गया है। इसमें उपनिवेशी साम्राज्यवाद का अति सक्षिप्त वर्णन किया गया है और १९१७-१८ के रूस विरोधी कारनामों की उपेक्षा विशेष रूप से की गयी है। द्वितीय विश्व महायुद्ध के कारणों

तथा रूस के बाहर के श्रमिक वर्गों के आन्दोलन की चर्चा इस पुस्तक में उपेक्षित है। अमेरिकी पूँजीवाद के आदर्शों के विरोध के पिछले अभियान में शिथिलता दिखाई पड़ी है। सोवियट यूनियन की कम्यूनिस्ट पार्टी के इतिहास के विवरण में इस पुस्तक ने पार्टी के सिद्धान्तो की अवहेलना की है। वस्तुतः पुस्तक में इस बात का ध्यान ही नही रखा गया है कि इतिहास लेखक भी सिद्धान्त के मोर्चे पर काम करने वाले श्रमिक हैं और ऐतिहासिक समस्याओ का मूल्यांकन करने में मुख्यतया पार्टी की दृष्टि से विचार किया जाना आवश्यक है, तथ्यो और ऐतिहासिक प्रगति पर लेनिनवादी दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए। अत इस पुस्तक ने 'किसी हद तक विद्यार्थियो की राजनीतिक और आदर्श सम्बन्धी शिक्षा को ठेस पहुँचायी है।' अन्त मे यह भी कहा गया है कि 'भूतपूर्व उप-प्रधान-सम्पादक ने सामूहिक दायित्व के सिद्धान्त का परित्याग करके अपने मनमाने ढग से काम किया है।' इसीलिए सम्पादक-मण्डल के सदस्य बदल दिये गये और नये सम्पादक-मण्डल से यह आशा की गयी कि भविष्य मे वह 'ऐतिहासिक तथ्यो और घटनाओ का मूल्यांकन करने मे पार्टी के सिद्धान्तो के पुन.स्थापन के लगनपूर्वक प्रयत्न की ओर विशेष ध्यान देगा।'

जब इतिहास को इस प्रकार दलगत चक्रो की कठपुतली बना दिया जाता है तो यह स्वाभाविक ही है कि स्कूलो और विश्वविद्यालयो मे इतिहास की शिक्षा राजनीतिक पार्टी के आदेशो की दासी बन जाती है। 'स्कूलो मे शिक्षा देने मे सबसे आवश्यक कर्तव्य यह है कि बच्चो को सोवियट देशभक्ति और सोवियट राष्ट्रीय सम्मान का पाठ पढाया जाय।' यहाँ तक तो शिकायत की कोई खास बात नही पैदा होती। अधिक-से-अधिक यह उतना ही बुरा कहा जायगा जैसी कि किसी समय ब्रिटेन मे आम तौर से प्रचलित मान्यता थी और आज भी पश्चिमी यूरोप तथा अमेरिका में व्याप्त मान्यता है। परन्तु शिक्षा सम्बन्धी रूसी आदेश देशभक्ति तथा राष्ट्रीय सम्मान पर बल देने मात्र से ही सतुष्ट नही होते। एक सरकारी पाठ्यक्रम में इस बात पर जोर दिया गया है कि 'सास्कृतिक विषयो का प्रतिपादन मूलतः और सामान्य रूप से भी वर्ग के दृष्टिकोण से किया जाना चाहिए. . . पढाई का परिणाम यह होना चाहिए कि विद्यार्थी सोवियट जनतत्र को सच्चा और वास्तविक जनतन्त्र मानने लगें . . सामाजिक इतिहास की स्कूली पढाई का आधार मार्क्स

और लेनिनवादी आधारभूत ग्रंथों में प्रतिपादित सिद्धान्त होने चाहिए।' एक विद्यालय निरीक्षक ने शिकायत की है कि एक स्कूल के शिक्षक ने 'अपने मुख्य कर्तव्य को ठीक तरह से समझा ही नही है। यह कर्तव्य है कामरेड जे० वी० स्टालिन, ए० ए० झेडनोव और एस० एम० किरोव के सर्वविदित आदेशों के अनुसार आधुनिक इतिहास को पढ़ाते समय मूल ध्यान बुर्जुआ और सामाजिक क्रान्तियों के विचारों के अन्तर को हृदयगम कराने पर रखा जाय।' इसी स्कूल में इतिहास के अध्यापन की स्थिति इसलिए असतोषजनक है 'कि सिद्धान्तो की दृष्टि से पढ़ाई का स्तर नीचा है... दुर्भाग्य से अब भी ऐसे अध्यापको की सख्या बहुत काफी है जो अपने अध्यापन कार्य को राजनीतिक सिद्धान्तो के प्रसार के अनुरूप चलाने का महत्त्व नही समझ पाये है।' यह बात सभी समयो के इतिहास के सम्बन्ध मे लागू होती है। 'ससार के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में विद्यार्थियो का ध्यान दासता के प्रश्न पर केन्द्रित होता है जो मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण का सर्वप्रथम रूप है और यही मानव समाज के विभिन्न वर्गों मे विभाजन का भी सबसे पहला विधान है।. मध्ययुग के सम्बन्ध मे सबसे महत्त्वपूर्ण इतिहास का विषय है शोषित और शोषक वर्गों के बीच वर्ग सघर्ष का इतिहास...। और आधुनिक इतिहास का सबसे महत्त्वपूर्ण विषय तो निश्चय ही विद्यार्थियो में कम्यूनिज्म के विश्वव्यापी दृष्टिकोण को विकसित किया जाना है।...आधुनिक इतिहास के पाठ्यक्रम मे मुख्य प्रश्न है वह मौलिक अन्तर जो अक्तूबर को महान् सामाजिक क्रान्ति तथा बुर्जुआ क्रान्ति के बीच स्पष्ट है।'

'राजनीतिक आदर्शों सम्बन्धी शिक्षा' के अन्तर्गत धर्म के प्रति एक निश्चित दृष्टिकोण विकसित करने का काम भी है जिसका अर्थ है धर्म विरोधी प्रचार पूरी तौर से किया जाय। इसका यह अर्थ नही है कि रूसी स्कूलो में किसी विशेष धर्म को गलत बताने की शिक्षा दी जाती हो। परन्तु धार्मिक इतिहास के अध्यायों में धर्म का उल्लेख शायद ही कही किया जाता हो। ईसाई धर्म के उपदेशों का विरोध या खण्डन तो नही किया जाता परन्तु उन्हें अप्रासंगिक मान कर उनका उल्लेख ही नही किया जाता। काल्विनवाद को 'प्रेसबिटेरियन' नही अपितु 'बुर्जुआवादी' और 'पूंजीवादी' कहा जाता है। लूथर 'कैथलिक' धर्म सिद्धान्तों का विरोधी नहीं बल्कि शोषक वर्ग की कठपुतली था। इंग्लैण्ड का गृहयुद्ध इतिहास का

एक मोड़ बतलाया गया है परन्तु उसके कारणों में किसी धार्मिक प्रश्न का उल्लेख नही किया गया है । इतिहास शिक्षकों की एक आदेश संहिता मे ईसाई धर्म को ऐसे कई धर्मों में से एक कहा गया है जिनके सिद्धान्त और सन्तो के जीवन तथा उपदेश समा-नान्तर-जैसे है । इस धर्म का प्रमुख महत्त्व यही है कि शोषक वर्ग ने उसे राजनीतिक प्रचार का एक प्रमुख साधन बनाया । 'यह विघटित होने वाली समाज व्यवस्था में दासवर्ग का आश्रय बना ।' ('इस प्रसंग मे ईसा मसीह सम्बन्धी कल्पित आ-ख्यान तथा उनके पुनरुज्जीवन की लोककथा बतलाना उपयोगी होगा क्योंकि इस कपोल कल्पना के अनुसार ईसा का पुनरुज्जीवन होने पर प्रकृति ने अपनी प्रसन्नता प्रकट की ।)[१] एक अन्य सरकारी आदेश मे इस बात पर जोर दिया गया है कि 'अध्यापक को इस बात का निरन्तर ध्यान रखना चाहिए कि शासक वर्ग के हाथो में धर्म एक शक्तिशाली अस्त्र के रूप मे रहा है. . . ईसाई धर्म के स्वीकार किये जाने (रूस में प्रारम्भिक मध्ययुग मे) का मुख्य कारण नीपर क्षेत्र मे सामन्ती सरदारों का उदय था और उन्हें अपने हितो के समर्थन के लिए किसी धर्म की आवश्यकता थी ।' ईसाई धर्म या रूस के एशियाई क्षेत्रो के किसी भी अन्य धर्म मे नैतिक या आध्यात्मिक तत्त्वो की खोज करना निरर्थक प्रयास ही सिद्ध होगा ।

एक बार फिर यह उल्लेख करना आवश्यक है कि इस प्रकार के विचार प्रकट करने में कम्यूनिस्टो को किसी भी प्रकार की शर्मिन्दगी का अनुभव नही होता ।

१. माध्यमिक स्कूलों के लिए लिखी गयी प्राच्यकालीन इतिहास की एक सरकारी पुस्तक में घटनाओं के लिए सामान्यतया प्रचलित ईसाई तारीखें देने के लिए क्षमा मांगते हुए कहा गया है : ईसा मसीह के जन्म की मानी हुई तारीख से चलने वाले संवत् को संसार भर में मान्यता प्राप्त है और इसी के अनुसार घटनाओं की तारीखों की प्रचलित पद्धति हमने भी अपनायी है । वस्तुतः विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि ईसा मसीह-जैसे व्यक्ति का कभी कोई अस्तित्व ही नहीं था । परन्तु अभी थोड़े समय पहले तक लोग उनके अस्तित्व में विश्वास करते थे और उनके जन्म के वर्ष से युग का प्रारम्भ मानकर उसी के आधार पर आगे के वर्षों की गणना करते थे ।

इस प्रकार की बातें वे अपने आपस में तो कहते ही हैं, अपनी सरकारी रिपोर्टों और आदेश पत्रों में भी इनका समावेश करते हैं तथा विदेशों में उन्हें प्रकाशित करने के लिए उनका अन्य भाषाओं में अनुवाद भी करते हैं (बहुधा यह अनुवाद बहुत भ्रष्ट होता है)। और इन बातों को कहना तथा प्रकाशित करना वे उसी प्रकार उचित मानते हैं जैसा कि पश्चिम के लोग अपनी दृढ़ मान्यताओ के कथन और प्रकाशन को ठीक समझते हैं। इतिहास के अध्ययन-अध्यापन ही नही अपितु हर प्रकार की शिक्षा के आधार के सम्बन्ध में भी पूर्व और पश्चिम के विचारों में जमीन और आसमान का अन्तर है। पश्चिम के लोग सत्य के विभिन्न स्वरूप मानते हैं और इसलिए किसी भी प्रश्न पर उसके विभिन्न पहलुओ से विचार किये जाने की पद्धति को प्रोत्साहित करते है। परन्तु इतिहास सम्बन्धी कम्यूनिस्ट मान्यताओ में इस प्रकार के विभिन्न मतों के लिए कोई स्थान नही है। वहाँ तो इतिहास सम्बन्धी सत्य का निरूपण सदा के लिए मार्क्स द्वारा किया जा चुका है और इसलिए मार्क्सवादी सिद्धान्तो के आधार पर ही इतिहास का अध्यापन अनिवार्यतः होना चाहिए। 'अध्यापक को निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि विद्यार्थियो को कम्यूनिज्म के प्रति आस्थावान् बनाने के लिए इतिहास स्वतः एक अमोघ और वैज्ञानिक अर्थात् मार्क्स-लेनिनवादी दृष्टिकोण और सत्य के प्रतिपादन (प्रत्यक्षतः इन दोनों को पर्यायवादी माना जाता है) वाला अस्त्र है। . . . इतिहास कम्यूनिस्ट शिक्षा का शक्तिशाली साधन है और कम्यूनिज्म के लिए संघर्ष करने में उसका भरपूर उपयोग होना ही चाहिए।' और यह काम अधूरे ढंग से नही किया जाना चाहिए: 'इतिहास की सामग्री का चयन तथा उसका प्रतिपादन ऐसे ढग से होना चाहिए कि वह विद्यार्थियों के मनोभावों को प्रभावित कर सके. . . दासतापूर्ण अतीत, शोषक वर्गों और जारशाही के प्रति घृणा की भावना भरने के कार्य से इतिहास का अविच्छिन्न सम्बन्ध होना चाहिए।'

समय-समय पर इस बात पर जोर दिया जाता है कि विद्यार्थियों में अग्रसर होने की प्रवृत्ति उभाड़ने की शिक्षा उपेक्षित न रहने पाये। उनमें 'ऐतिहासिक ढंग से सोचने और ऐतिहासिक परिस्थिति को समझने की योग्यता होनी चाहिए।' सन् १९५२ की सोवियट पाठ्य पुस्तकों की समीक्षा करते हुए 'टाइम्स एजुकेशनल सप्लीमेन्ट' ने कहा था कि वे किसी बात को स्पष्ट रूप से स्वीकृत या अस्वीकृत

करने अर्थात् 'हाँ' या 'न' कहने की प्रवृत्ति रोकती है । इन पुस्तको से बच्चों में अनिवार्यत: यह विश्वास जमता है कि मानव इतिहास की अधिकाश बातों के बारे में स्पष्ट 'हाँ' अथवा 'न' के रूप मे उत्तर नही दिया जा सकता । उनके उत्तर में यही कहना होगा 'हाँ. . . किन्तु' अथवा 'नही. . . किन्तु ।' पाठ्य पुस्तको के सम्बन्ध में यह बात सही हो या न हो परन्तु पाठ्य सहिताओ और सरकारी आदेशपत्रो के सम्बन्ध मे तो यह निश्चय ही गलत है । उनमे तो अत्यन्त निश्चयात्मक और आदेशात्मक ढंग से कहा जाता है 'शिक्षक को यह अवश्य ही समझना चाहिए. . . शिक्षक को यह बात अवश्य ही ध्यान मे रखनी चाहिए. . . उसे यही दिखाना चाहिए . . . शिक्षको का पहला कर्तव्य यह है . शिक्षको को चाहिए कि वे दासो और गरीबों के विद्रोह सम्बन्धी स्पष्ट और निश्चयात्मक सामग्री अवश्य ही प्रस्तुत करनी चाहिए . शिक्षक को चाहिए कि वह कामरेड स्टालिन का निम्न आदेशात्मक सिद्धान्त अपने विद्यार्थियो को अवश्य ही हृदयगम करा दे .' इसी समस्या पर फ्रास के एक सरकारी आदेश से यह स्थिति कितनी भिन्न और प्रतिकूल है ·

अन्य कम्यूनिस्ट देशो में भी अवस्था रूस-जैसी ही है । उदाहरणार्थ रूमानिया में पाठ्य पुस्तकों मे इतिहास का विभाजन इन चार विशिष्ट समयो के अन्तर्गत किया गया है :—आदिकाल, सामन्ती युग (मध्ययुग जो १७५० मे समाप्त होता है), पूँजीवादी युग (१७५०–१९१७) तथा समाजवादी युग (१९१७ के बाद से) । अन्य सभी देशो की अपेक्षा रूस के सम्बन्ध मे अधिक उदार दृष्टिकोण अपनाया गया है जो स्वाभाविक ही है । उदाहरणार्थ १९४७ की शान्ति सधि के सम्बन्ध मे रूमानिया के अनुकूल सभी शर्तों का श्रेय रूसी कूटनीतिज्ञता को दिया गया है और उसके प्रतिकूल पड़ने वाली धाराओ के सम्बन्ध मे कहा गया है कि रूसी प्रतिनिधियों ने उनका दृढ़तापूर्वक विरोध किया । इतिहास की शिक्षा के मुख्य ध्येय के सम्बन्ध मे कहा गया है कि 'विद्यार्थियो को पुराने समय की प्रगतिशील शक्तियों, सामन्तवादी प्रतिक्रिया के विरुद्ध किसानो के सघर्ष,. . . पूँजीवादी शक्तियो के विरुद्ध श्रमिक वर्गों के सघर्ष तथा. . . प्रतिक्रियावादी विचारो के विरुद्ध बौद्धिक वर्ग के सघर्ष' की प्रगति से परिचित कराया जाना चाहिए । इसी प्रकार चेकोस्लोवाकिया में इतिहास की शिक्षा का एक मुख्य ध्येय है 'श्रमिकों मे अन्तर्राष्ट्रीय एकता की भावना को विकसित करना' और चेक पुस्तके 'वर्गों', 'जातियो' तथा 'दासता'

के उल्लेखों से परिपूर्ण हैं जो सभी देशों के कम्यूनिस्ट इतिहास की विशिष्टता है ।

वस्तुत: कम्यूनिस्ट इतिहास लेखन का अपना एक विशिष्ट शब्दकोश है और उन्हीं बोझिल विशेषणो की निरन्तर पुनरुक्ति की जाती है । इतिहास के सभी कालों के सम्बन्ध मे यह कहा गया है कि 'दास बनाने वाले वर्गों' ने 'जनता के हितों का अपहरण' किया है, प्राचीन काल में 'ऊँचे तबको' के लोग और आधुनिक काल में 'बुर्जुआ' लोग इसके लिए जिम्मेदार हैं और इनका विरोध 'पसीना बहाने वाले किसानो' से रहा है । इनकी शब्दावली मे 'प्रगतिशील' का अर्थ होता है 'कम्यूनिस्ट' और 'प्रतिक्रियावादी' का अर्थ होता है 'पूँजीवादी' । और सभी देशो के समस्त कालों के पादरी और पुजारी वर्ग को बारम्बार 'प्रतिक्रियावादी' बतलाया गया है । १९१७ के पहले के सभी युद्धों को 'डाकुओ की लड़ाई' बतलाया गया है जिनमें से कुछ के सम्बन्ध मे यह उल्लेख भी किया गया है कि 'वीर रूसी लोगो' ने उनमें बडी बहादुरी दिखलायी । १९१४–१९१८ के महायुद्ध को 'पाशविक लुटेरापन' कहा गया है और १९४१–४५ के द्वितीय महायुद्ध को 'महान् देशभक्तिपूर्ण युद्ध' बतलाते हुए भी उसके सम्बन्ध मे पहले के समान ही 'अंग्रेज-अमेरिकन युद्ध पिपासुओ' की लुटेरेपन की मनोवृत्ति का भेद स्पष्ट रूप से अंकित किया गया है ।

कम्यूनिस्ट चीन के सम्बन्ध मे यद्यपि तथ्यो की जानकारी का बहुत अभाव है फिर भी 'पीपुल्स रिपब्लिक' के सामान्य कार्यक्रम मे 'जनसाधारण की प्रचारपूर्ण शिक्षा को सुदृढ करने' की बात सम्मिलित है । उसमे 'इतिहास, अर्थशास्त्र, सस्कृति तथा अन्तर्राष्ट्रीय विषयो के अध्ययन तथा प्रतिपादन मे वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक दृष्टिकोण' अपनाये जाने की बात भी कही गयी है । 'वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक' दृष्टिकोण का अर्थ क्या है यह १९४८ के एक रूसी प्रकाशन से स्पष्ट हो जाता है । इस प्रकाशन मे इतिहास के अध्ययन पर जोर देते हुए कहा गया है कि 'विद्यार्थियो में ऐतिहासिक भावना पैदा करने और उसे विकसित करने से अर्थात् सामाजिक जीवन के प्रति ऐतिहासिक वृत्ति बलवती बनाने से उनमे विवेकपूर्ण विचार की चेतना जाग्रत होती है ।'

× × ×

इन सब बातो से इतिहास के अध्यापन के सम्बन्ध में ऐसे दृष्टिकोण का परिचय हमे प्राप्त होता है जो पश्चिमी यूरोप तथा अमेरिका के अध्यापको के लिए एकदम

असह्य है। परन्तु कम्यूनिज्म मे सच्ची निष्ठा रखने वाले कम्यूनिस्टो को यह बात समझ में ही नही आती कि उनका यह दृष्टिकोण दूसरो को असह्य क्यो है और वे समझते है कि उन्हे अपने बच्चो को इसी दृष्टिकोण के अनुरूप शिक्षा दी जानी चाहिए। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि पश्चिमी यूरोप तथा अमेरिका के लोग स्वय भी तो ऐसा ही करते है। और यदि हम अपनी मनोवृत्ति की भी उसी कठोरता से आँच करे जैसी कि कम्यूनिस्टो के सम्बन्ध मे करते है तो हम अपने को सर्वथा निर्दोष नही पायेगे। सम्भव है कि इतिहास की देवी की कम्यूनिस्ट देशो मे अधिक छीछालेदर की जाती हो परन्तु पार्लमेन्टरी पद्धति के लोकतन्त्र वाले पश्चिमी देशो में भी इस देवी की अप्रतिष्ठा होती अवश्य है।

ब्रिटेन के इतिहास-शिक्षक जिस बात को निरन्तर दुहराते रहते है और जिस पर विश्वास करना विदेशियो के लिए अत्यन्त कठिन होता है उसी बात को एक ब्रिटिश लेखक की इस पुस्तक मे दुहराना आवश्यक है ब्रिटेन में इतिहास की शिक्षा सरकारी निर्देश से सर्वथा मुक्त है और सरकारी दबाव भी इस सम्बन्ध मे लगभग शून्य ही है। ब्रिटेन मे इतिहास की शिक्षा के सम्बन्ध मे कोई सरकारी आदेश-निर्देश नही दिये जाते। ब्रिटेन का शिक्षा मन्त्रालय 'इतिहास शिक्षण' शीर्षक एक पुस्तिका प्रकाशित करता है जो बहुत ही अच्छी और समझदारी की सलाह से युक्त है। किन्तु यद्यपि अधिकाश इतिहास-शिक्षक इस पुस्तिका मे अंकित सुझावो के अनुसार ही अध्यापन करना पसन्द करेंगे फिर भी किसी को उन्हे मानना लाजिमी नही है और उन्हे न मानने पर किसी को भी दडित किये जाने की आशका नही है। ब्रिटेन के इतिहास-शिक्षक अपने शिक्षण-कार्य मे यदि प्रवीण है तो फिर उन्हें इस बात की पूरी छूट है कि वे क्या पढ़ाये और किस ढग से पढाये---सच तो यह है कि वे अपने अध्यापन कार्य मे जितनी अधिक मौलिकता दिखाते है उतना ही अधिक वे सरकारी अधिकारियो की प्रशसा के पात्र बनते है। ब्रिटिश शिक्षा मंत्रालय तो प्रायः इस विश्वव्यापी परिपाटी को भी नही अपनाती कि शिक्षक पाठ्य पुस्तको का चयन निर्धारित पुस्तक सूची के आधार पर ही करे। कुछ स्थानिक शिक्षा अधिकारी पाठ्य पुस्तको की सूची अवश्य निर्धारित करते है परन्तु वे भी ऐसी सूची बनाने मे किसी राजनीतिक या अन्य प्रकार के सिद्धान्त विशेष के प्रतिपादित किये जाने की ओर ध्यान नही देते। उनकी सूची का आधार होता है

तथ्यों की सच्चाई, ज्ञान की गहराई और सही शिक्षण विज्ञान। अन्य कितनी ही बातों के समान इतिहास के शिक्षण के सम्बन्ध में अब भी सच्चाई के साथ कहा जा सकता है कि ब्रिटेन में संसार के सभी देशों से अधिक विचार-स्वातंत्र्य है।

इस दृष्टि से, वस्तुतः, 'इतिहास शिक्षण' नामक पुस्तिका इसी कोटि की पहले की पुस्तिकाओं से भी अधिक श्रेष्ठ है। मंत्रालय ने इससे पूर्व जितनी भी पुस्तिकाएँ जारी की थी उन सबकी आधारभूत भावना यह थी कि इतिहास की पढ़ाई का उद्देश्य जनसत्तात्मक विचारो के लोग तैयार करना है। परन्तु इस नयी पुस्तिका में इस भावना का भी अभाव है। 'इतिहास शिक्षण' पुस्तिका मे किसी भी विचार या मत के समर्थन मे प्रचार किये जाने की गंध भी नही है—न जनसत्तात्मक पार्लमेन्टरी पद्धति, न इससे पहले की पीढ़ियों का प्रिय सिद्धान्त ब्रिटिश कामन-वेल्थ, यहाँ तक कि देशभक्ति और ईसाई धर्म भी नही। प्रायः सभी और देशों की सरकारे इतिहास शिक्षण का एक आधारभूत सिद्धान्त देशभक्ति की शिक्षा देना तो मानती ही हैं। यह बात यूरोप की जनसत्तात्मक सरकारो तथा अमेरिका के सम्बन्ध मे भी लागू है और कम्यूनिष्ट देश तो निश्चय ही ऐसा करते है। सीरिया की गैर-कम्यूनिस्ट सरकार का कहना है कि 'इतिहास शिक्षण का वास्तविक ध्येय राष्ट्रीयता का विकास और देशभक्ति की भावना का पोषण है।' इंग्लैण्ड में स्थिति इसके ठीक विपरीत है जहाँ की एक इतिहास संस्था ने अपनी एक पुस्तिका में इस बात पर जोर दिया है कि अन्य सामाजिक विषयो की शिक्षा के समान ही इतिहास के अध्ययन के सम्बन्ध मे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हम ऐसे देशों के सम्बन्ध में जानकारी दें जिनकी भौगोलिक और शासन सम्बन्धी विशेषताएँ हमारे अपने देश से सर्वथा भिन्न हो जिनके प्रभाव से उन देशो का ऐतिहासिक और सामाजिक विकास भिन्न ढंग से हुआ हो। इस प्रकार के शिक्षण से हम अपने देश सम्बन्धी बातो मे रुचि पैदा कर सकेंगे और अपनी बातों का महत्त्व समझा सकेंगे।' इसमे सन्देह नही कि ब्रिटेन में इतिहास शिक्षा का व्यावहारिक रूप अभी इस सिद्धान्त से काफी पिछड़ा हुआ है, फिर भी ब्रिटेन में सिद्धान्त रूप में तो यह बात मान ही ली गयी है। महत्त्व की बात यह है कि ब्रिटेन में किसी सरकारी दृष्टिकोण के अनुरूप इतिहास की शिक्षा देने की कोई मजबूरी तो है ही नहीं इसके साथ ही पक्षपात रहित शिक्षण की भावना को प्रोत्साहित किया जाता है।

कभी-कभी ऐसा कहा जाता है कि जिन देशो में राष्ट्रीयता की भावना का विकास नया-नया हुआ है उन्ही देशो मे इतिहास की पढ़ाई मे राष्ट्रीयता को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है और दूसरी ओर जिन पुराने देशो मे राष्ट्रीयता की पुरानी परम्परा मौजूद है वहाँ इस पर सबसे कम बल दिया जाता है। अभी सीरिया का जो उदाहरण ऊपर दिया गया है उससे इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है। इसी प्रकार के और दृष्टान्त भी आसानी से प्रस्तुत किये जा सकते है। परन्तु जैसा कि हम देख ही चुके है यद्यपि कम्यूनिज्म का दृष्टिकोण निश्य ही अन्तर्राष्ट्रीयता का है फिर भी रूस मे राष्ट्रीयता की भावना को प्रमुख महत्त्व प्राप्त है। और अमेरिका में भी (इस देश मे शिक्षा सम्बन्धी नीति इसके सभी राज्यो की एक-जैसी ही न होने के कारण समूचे देश के सम्बन्ध मे एक सामान्य सिद्धान्त निर्धारित करना कठिन है) शिक्षण की पद्धति स्वतन्त्र नही कही जा सकती और शिक्षको को ऐसे विचारो के प्रतिपादन के लिए प्रोत्साहित किया जाता है जो ससार मे समान रूप से मान्य नही कहे जा सकते। १९३६ मे 'क्या अमेरिकन शिक्षक स्वतन्त्र है ?' शीर्षक से एक तीखा लेख प्रकाशित हुआ था जिसमे यहाँ तक कहा गया है कि अमेरिका मे शिक्षण पद्धति मे विविध प्रकार के वर्ग अपना प्रभाव डाल कर हस्तक्षेप करते हैं जैसे जर्मनी विरोधी, ब्रिटेन विरोधी और बडे व्यवसायी वर्ग आदि। यह विचार सही हो या न हो फिर भी यह शिक्षा सम्बन्धी सामान्य धारणा की अभिव्यक्ति नही करता। कितनी ही अमेरिकन शिक्षण पुस्तिकाओ मे इस बात पर जोर दिया जाता है कि शिक्षक को अपना अध्यापन कार्य तटस्थ और पक्षपात रहित भाव से करना चाहिए। एक पुस्तिका मे कहा गया है कि 'शिक्षक का सबसे पहला कर्तव्य अपने विद्यार्थी के प्रति है, किसी राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय सगठन या संस्था के प्रति नही। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य राष्ट्रभक्त नागरिक, श्रेष्ठ अमेरिकन या अन्तर्राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत व्यक्ति पैदा करना नही है; इसका उद्देश्य तो सब प्रकार से योग्य और परिपूर्ण और, जहाँ तक सभव हो, सुखी व्यक्ति तैयार करना है जो स्वय अपने तथा अपने बन्धु-बाधवो के साथ तालमेल बैठाने मे सफल हो। अन्य पुस्तिकाओ मे इस बात पर जोर दिया गया है कि इतिहास शिक्षण का एक मुख्य ध्येय विद्यार्थियो मे 'ऐसे विवेक और निर्णय बुद्धि का विकास करना है जो पढ़ी और सुनी बातो, तथ्य और सम्मति के बीच छान-बीन करके स्वतन्त्र

रूप से अपना मत स्थिर कर सके।' परन्तु इसी पुस्तिका में एक परिच्छेद 'वांछनीय प्रवृत्ति का विकास' शीर्षक से दिया हुआ है और प्रवृत्ति चाहे कितनी भी वांछनीय क्यों न हो, यही पर बुराई के प्रवेश का मार्ग खुल जाता है। आखिर यह कौन तय करेगा कि 'वांछनीय प्रवृत्ति' किसे कहा जाय? क्या पार्लमेन्टरी जनतन्त्रात्मक पद्धति में आस्था को वांछनीय प्रवृत्ति कहा जायगा? न्यूयार्क के स्टेट विश्वविद्यालय की एक पुस्तिका निश्चयात्मक रूप से ऐसा ही मानती है। इसमें कहा गया है : 'प्रत्येक विद्यार्थी मे जनतन्त्रात्मक राजनीतिक परम्पराओं में दृढ आस्था होनी चाहिए. . . . युवक नागरिक को अपने देश में राजनीतिक जनतन्त्र के सही भाव की स्पष्ट जानकारी और अनुभूति होनी चाहिए. . . जनतन्त्रात्मक पद्धति के मार्ग मे उपस्थित खतरो के सम्बन्ध मे उसे पूरी तरह सचेत होना चाहिए और वह दृढनिष्ठ होकर जनतन्त्रात्मक परम्परा को संकुचित होने से बचा कर उसे और विस्तीर्ण बनाने का प्रयत्न कर सके।' पार्लमेन्टरी जनतन्त्रात्मक पद्धति के समर्थको को ऐसे विचार सर्वथा निर्दोष भले ही लगे परन्तु कम्यूनिस्ट मान्यता वाला व्यक्ति ऐसा कदापि नही मानेगा। वह तो यही मानेगा कि पार्लमेन्टरी जनतंत्र प्रणाली के पक्ष मे यह वैसा ही प्रचार है जिस प्रकार कम्यूनिस्ट लोग अपने राजनीतिक सिद्धान्त के प्रतिपादन और प्रचार मे कहते हैं कि 'पाठ्यक्रम को पढ़ाई के परिणामस्वरूप विद्यार्थियो को यह हृदयंगम हो जाना चाहिए कि जनतंत्र का सही और सच्चा स्वरूप सोविएट जनतंत्र प्रणाली ही है।

साथ ही, हमे यह भी नही भूलना है कि कम्यूनिस्ट तथा गैर कम्यूनिस्ट देशों के बीच इतिहास शिक्षण परिपाटी का अन्तर बहुधा वास्तविक न होकर केवल शाब्दिक ही है। कम्यूनिस्टों के समान गैर कम्यूनिस्ट देशों मे बारम्बार एक ही प्रकार के विशेषणों को दुहराने की प्रवृत्ति भले ही न हो परन्तु हम अब कम-से-कम इतना तो स्वीकार ही करते है कि प्राचीन एथेंस में 'दासता व्यवस्था' प्रचलित थी और इस बात में भी गहरा सन्देह प्रकट करने लगे हैं कि उसका शाश्वत रूप से प्रशंसित संविधान क्या वास्तव मे 'जनसत्तात्मक' था। हम अपनी पुस्तकों में फ्रेंच शब्द 'बुर्जुआ' का ढोल तो नही पीटते परन्तु राजनीतिक क्रान्ति के बाद उसके जोरदार विरोध मे हमने ही टायनबी के जमाने में 'औद्योगिक क्रान्ति' का विचार प्रस्तुत किया। लगभग एक शताब्दी पहले, जब कट्टरपंथी डिजरैली ने ब्रिटेन में

'दो राष्ट्रों' की बात हमें बतलायी, तो कम-से-कम उस समय से हम 'शोषित' और 'शोषक' दो भिन्न वर्गों के अस्तित्व पर जोर देने लगे ।

वास्तव में कुछ बातें ऐसी है जिनके विचार से रूसी तथा अन्य कम्यूनिस्ट देशों की इतिहास पुस्तकें ब्रिटिश पुस्तको की अपेक्षा निश्चय ही श्रेष्ठ हैं । कम्यूनिस्ट सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर मान्यता प्राप्त किये हुए हैं और इसलिए कम्यूनिस्ट देशों का इतिहास शिक्षण गैर-कम्यूनिस्ट देशो की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर अधिक आधारित है । कम्यूनिस्टो पर अर्थनीतियों का आतंक अवश्य सवार रहता है परन्तु उन पर राजनीति का आतंक हमारी अपेक्षा कही कम होता है । अतः हमारी पुस्तको के समान उनकी पुस्तको मे संस्कृति की उपेक्षा कर के राजनीति को महत्त्व नही दिया जाता । उनकी पुस्तको मे बहुधा बड़े कवियो को महान् राजनीतिज्ञो-जैसा ही महत्त्व दिया जाता है, उनमे कला और विज्ञान की उपेक्षा नही की जाती या उनका सरसरी तौर से उल्लेख कर दिया जाता है । सबसे मुख्य बात तो यह है कि पश्चिमी यूरोप और अमेरिका की पुस्तको मे विश्व इतिहास के सम्बन्ध मे जितना सकुचित दृष्टिकोण अपनाया जाता है उसकी अपेक्षा कही अधिक उदार दृष्टिकोण कम्यूनिस्ट इतिहास पुस्तको मे मिलता है । ससार के जिन देशों को हमने 'पूर्व' की सज्ञा दे रखी है उनके सम्बन्ध में कही अधिक विवरण रूसी इतिहास पुस्तको मे मिलता है—यद्यपि रूस के लिए ससार के ये भू-भाग 'पूर्वी' शायद ही कहे जा सके । इनकी पुस्तको मे 'निकट पूर्वी' सस्कृतियो—स्लाव तथा बैजेन्टाइन का तो समुचित विवरण मिलता ही है जैसा कि पश्चिमी यूरोप की किन्ही भी पुस्तको मे नही दिखाई देता; किन्तु साथ ही रूसी पुस्तको में इस्लाम, भारत तथा चीन के बारे मे भी कही अधिक विस्तार से लिखा जाता है । रूस मे तो यह बात स्वाभाविक ही है क्योकि भौगोलिक दृष्टि से रूस का जितना भाग यूरोप में है उससे कही बडा उसका अश एशिया मे आता है । परन्तु अन्य कम्यूनिस्ट देशों के सम्बन्ध मे भी यही बातें सही है । इसमे सन्देह नही कि भारत और चीन के समाज और उनके इतिहास में ऐसे तत्त्व है जो कम्यूनिज्म के अधिक अनुकूल पड़ते है । फिर भी कारण इससे कही अधिक गहरे और व्यापक है । मानव समाज के इतिहास की समीक्षा करते हुए, ससार के तीन चौथाई लोगों की उपेक्षा की बात पश्चिमी यूरोप की पुस्तको में स्वाभाविक और न खटकने वाली

लगती है परन्तु कम्यूनिस्ट पुस्तकों में ऐसा किया जाना नितान्त अस्वाभाविक होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि अन्य देशों के इतिहास लेखकों की अपेक्षा कम्यूनिस्ट इतिहासकारों की रचनाओं में प्राच्य संसार का विवरण अधिक विस्तार तथा औचित्य के साथ किया जाता है।

परन्तु इसे भी हम पूर्ण औचित्य की संज्ञा नहीं दे सकते। पूर्व के साथ पूर्ण न्याय और औचित्य का व्यवहार तो यूरोप या अमेरिका के किसी भी देश में कभी भी प्रकाशित किसी भी पुस्तक में आज तक कभी भी नही हुआ है।

४

यूरोप के किसी भी देश में या अमेरिका में कभी भी प्रकाशित किसी भी इतिहास पाठ्य पुस्तक में पूर्व के सम्बन्ध में पूरी तरह से न्याय और औचित्य का व्यवहार कभी भी नही हुआ है ।

१९५० के बाद वाले दशक के उत्तरार्ध मे सयुक्त राष्ट्र संगठन की शिक्षा-विज्ञान एवं संस्कृति का संवर्धन करने वाली संस्था यूनेस्को ने निश्चय किया कि विश्व के सामने उपस्थित विभिन्न समस्याओ मे से तीन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है और इन तीनो के सम्बन्ध मे उसने 'विशाल योजनाओ' का सचालन किया—यह कार्य यूनेस्को ने उसी ढंग से चलाया, जैसे विभिन्न देश अपनी पचवर्षीय या दस-वर्षीय योजनाएँ चलाते है । इनमें से एक योजना थी लैटिन अमेरिका मे प्रारम्भिक शिक्षा का विस्तार करने की जहाँ अधिकांश शिक्षा को प्रारम्भिक की अपेक्षा आदिकालीन कहना अधिक उपयुक्त होगा । दूसरी योजना बिना सिचाई के साधनो वाली भूमि का विकास करने की थी । ऐसी अनुपजाऊ भूमि ससार के एक चौथाई से भी अधिक क्षेत्र घेरे हुए है । तीसरी योजना पूर्वी और पश्चिमी ससार के बीच व्याप्त पारस्परिक अज्ञान और भ्रान्ति को दूर करने के सम्बन्ध मे थी । पूर्व और पश्चिम एक-दूसरे के सम्बन्ध मे अधिक जानकारी प्राप्त करके आपस मे समझ-दारी और सद्भाव बढा सके, इसके लिए यूनेस्को ने सुझाव दिये है । सुझाव यह है कि पश्चिमी ससार के देश सबसे पहले अपने यहाँ पूर्वी ससार के देशो के सास्कृतिक महत्त्व की जानकारी कराये और अपने लोगो को उसके मर्म से अवगत कराये । दूसरी ओर पूर्वी संसार के देश भी सबसे पहले अपने यहाँ पूर्व की ही ! सांस्कृतिक निधि सम्बन्धी ज्ञान का प्रसारण किये जाने पर ध्यान दें ।

ऊपरी तौर से देखने मे यह बात कुछ बेतुकी-सी लगेगी परन्तु वस्तुतः ऐसा नही है । यूनेस्को का उद्देश्य तो यही है कि पूर्व और पश्चिम एक-दूसरे को पूरी तरह समझ सकें । संसार के समस्त समझदार व्यक्तियो के समान ही यूनेस्को भी यही

अनुभव करता है कि वर्तमान समय में पूर्व के विचार और चिन्तनशील व्यक्ति पश्चिम की संस्कृति के बारे में काफी जानकारी और समझ रखते हैं, किन्तु दूसरी ओर पश्चिम के चिन्तनशील व्यक्ति पूर्व की संस्कृतियों के सम्बन्ध में न तो कुछ जानते ही है और न उन्हें तनिक भी समझते हैं। एशिया में ऐसे करोड़ों शिक्षित लोग हैं जो यूरोप की एक या एक से अधिक भाषाओं के जानकार हैं और ऐसे लोगों की संख्या भी लाखों में है जो पश्चिमी देशों के एक या एक से अधिक भाषाओं के साहित्य का अच्छा ज्ञान रखते हैं। दूसरी ओर यूरोप या अमेरिका में ऐसे कितने शिक्षित लोग है जो एशिया की कोई एक भी भाषा बोल लेते हों या जिन्होंने एशिया के किसी भी साहित्य का कोई श्रेष्ठ ग्रन्थ पढ़ा हो। हाँ, कुछ लोगों ने विख्यात पूर्वी गणितज्ञ उमरखैयाम के प्रेम काव्य का अंग्रेजी रूपान्तर भले ही पढ़ा होगा जिसे उसने अपनी फुरसत के समय में लिखा था। और पूर्वी देशों की सस्कृति के सामान्य ज्ञान के सम्बन्ध में यह कहना तनिक भी अतिशयोक्ति की बात न होगी कि हम पश्चिम वाले पूर्व की आधारभूत बातो की जानकारी मे एकदम शून्य ही हैं। इसका एक कारण तो यह है कि हम पूर्व के सम्बन्ध में केवल उन्हीं बातो के बारे मे सोचते या जानना चाहते हैं जिनका पश्चिमी ससार से कोई सरोकार रहा हो। जब हम सभ्यता की चर्चा करते हैं तो हमारा तात्पर्य केवल यूरोपीय सभ्यता से होता है और पूर्व की सभ्यता की ओर हमारा तनिक भी ध्यान नहीं जाता। हम इंग्लैण्ड के लोगों की भारतीय इतिहास की जानकारी और शिक्षण भारत में अंग्रेजो के कार्य-कलापो तक ही सीमित रहती है : क्लाइव और वारेन हेस्टिंग्स, बेन्टिक और डलहौजी और कर्जन तक ही हमारा ज्ञान सीमित रहता है और अशोक, चन्द्रगुप्त, गजनी के मोहम्मद या अकबर की जानकारी हमें नहीं होती; पलासी का युद्ध हमें मालूम है परन्तु पानीपत के युद्ध को हम नहीं जानते; 'सती' प्रथा हमें मालूम है किन्तु 'भक्ति' के बारे में हम कुछ भी नही जानते। चीन के इतिहास के बारे में हमारी पहुँच और जानकारी उन्ही प्रसंगों के सम्बन्ध में है जिनसे किसी अंग्रेज का कोई सरोकार रहा हो, जैसे मेकार्टनी का दूतावास, अफीम के युद्ध और 'सन्धि बन्दरगाह' तथा ताकनर विद्रोह; किन्तु दूसरी ओर वूती या सियाओवेन या ताई त्सुग या कांग सी-जैसे किसी ऐसे विषय के सम्बन्ध में जिन पर चीनी लोग गर्व का अनुभव कर सकते हैं हमारा ज्ञान एकदम शून्य है।

यही बात यूरोप के प्रत्येक देश और अमेरिका के लोगों के सम्बन्ध में भी लागू होती है । 'पूर्व-पश्चिम विशाल योजना' के अन्तर्गत यूनेस्को ने एक काम पश्चिमी देशों की इतिहास पाठ्य पुस्तकों की परीक्षण का प्रारम्भ कराया । यह काम पूर्वी देशों के विद्वानों को नहीं अपितु स्वयं पश्चिमी देशो के इतिहास शिक्षकों को ही सौंपा गया । इसके परिणामस्वरूप प्रायः प्रत्येक देश से एक-जैसी ही शिकायतों से युक्त रिपोर्टें प्राप्त हुई हैं । स्थिति-सम्बन्धी सबसे अच्छा सामान्य विवरण बेल्जियम के आलोचकों ने अपने देश की पुस्तकों के सम्बन्ध में प्रस्तुत किया है जिसमें कहा गया है :

'मध्य युग के सम्बन्ध मे हमारे विचार मुख्यतया तथा क्रमबद्ध रूप में यूरोप पर ही केन्द्रित रहे हैं । ससार के दूसरे (पूर्वी) भाग में विशाल मानव समाज के अस्तित्व और उनकी अज्ञात सभ्यता सम्बन्धी जानकारी अपने युवकों को देने के लिए हमारे पास उपलब्ध आधार सामग्री मार्कोपोलो और उसकी एशियाई समुद्रों में यात्रा की घटनाओ के संक्षिप्त उल्लेखो तक ही सीमित है । आधुनिक इतिहास के सम्बन्ध में हमारा साहित्य केवल संसार के पश्चिमी भाग तक ही सीमित है : उसमें एशिया का विवरण नगण्य-जैसा ही है । सामान्य रूप से हम उसे एकदम भुलाये हुए हैं । यदि कभी-कभी दक्षिण-पूर्वी एशिया के उल्लेख मिलते भी हैं तो उनका सम्बन्ध पुर्तगाली और डच उपनिवेशों तक ही सीमित है; यदि भारत का नाम हमारी पुस्तकों में लिया गया है तो ऐसा डूप्ले या सफरेन की स्मृति के सम्मान के नाते ही किया गया है । इतिहास के मानवीय पक्ष का विवरण एकदम छूटा हुआ ही है । स्कूली पुस्तिकाओं में ईस्ट इण्डिया कम्पनी और भारतीय सैनिक क्रान्ति के बारे में तो कुछ कहा भी गया है परन्तु जापानी लोगो और एशिया की अन्य सभी जातियों के सम्बन्ध में वे एकदम मौन हैं । उनकी रहन-सहन, उनके सामाजिक संगठन और उनकी भावनाओ तथा आकांक्षाओ से हम एकदम अपरिचित ही रहते हैं । उनका जीवन स्तर कैसा है, उनकी शिक्षा किस कोटि की है, उनके धर्म का रहस्य और भावना क्या है या उनका आन्तरिक प्रशासनिक संगठन कैसा है इन सब बातों की हमें कोई भी जानकारी नही होती । हमारी पुस्तकों के अध्याय उपनिवेश और साम्राज्यवादी भावनाओं से ओतप्रोत हैं और हम विश्व नागरिक की दृष्टि से एशिया सम्बन्धी जानकारी नहीं प्राप्त करना चाहते ।'

फ्रेंच पुस्तकों के सम्बन्ध में फ्रांस के ही आलोचकों का मत है :

'एशिया में यूरोपीय देशों के प्रभुता विस्तार तथा उपनिवेशवाद पर हमारी पुस्तकों में जितना ध्यान दिया गया है उसकी तुलना में महान् एशियाई सभ्यताओं के सम्बन्ध में बहुत कम ध्यान दिया गया है। यूरोप के बाहर की घटनाओं और सभ्यताओं पर हमने उतना ही ध्यान या महत्त्व दिया है जितने अनुपात में उनका सम्बन्ध (प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष) पश्चिमी यूरोप के इतिहास से रहा है। एशिया के बारे में स्थिति यह है कि भौगोलिक दृष्टि से एशिया का जो देश पश्चिमी यूरोप से जितना ही अधिक दूरी पर स्थित है, उतना ही कम उल्लेख उसके सम्बन्ध में किया गया है।'

स्विट्जरलैण्ड की पुस्तकों के सम्बन्ध में उस देश के आलोचकों ने अपने विचार आँकड़ों के रूप में इस प्रकार प्रकट किये हैं :

'यह पुस्तक पूर्णतया यूरोपीय दृष्टिकोण से लिखी गयी है। इस्लाम का उल्लेख केवल डेढ़ पृष्ठ में और मोहम्मद का उल्लेख दो वाक्यों में किया गया है। ईसाइयों के धार्मिक आक्रमण 'क्रूसेड' के बाद से यूरोपीय सभ्यता पर पूर्व के प्रभाव की लेखक ने एकदम उपेक्षा की है। विश्व इतिहास का वर्णन करने वाली पुस्तक में एशियाई विषयों का विवरण केवल २ या ३ प्रतिशत ही है।'

इटली के आलोचकों के विचार इस प्रकार हैं :

'उदाहरणार्थ, कई पुस्तको में भारत के इतिहास की कहानी केवल ब्रिटिश उपनिवेशों की स्थापना के इतिहास तक ही सीमित है। कुछ पाठ्य पुस्तकों में चीन के इतिहास का प्रारम्भ १८९५ में शीयोनोसेकी की सन्धि के समय से ही किया गया है, जैसे कि इसके पहले के समय वाले चीनी जीवन में हमारी जानकारी योग्य कोई रोचक बात हुई ही न हो। हमारे बच्चे, या तो उस मानसिक शिथिलता के कारण जो नयी बातों की जानकारी प्राप्त न करने की प्रवृत्ति पैदा करती है, या अचेतन जातीय श्रेष्ठता के गर्व के कारण, सस्ते और हलके अध्ययन के आधार पर लिखी गयी पुस्तकों के विचारों को सहज ही स्वीकार कर लेते हैं और यह मान बैठते हैं कि संस्कृति, उद्योग-धन्धों, वैज्ञानिक खोज तथा उन्नति का ठेका पश्चिमी जातियों ने ही ले रखा है।'

'हमारी इतिहास पुस्तकों में एशिया के आक्रमण का उल्लेख है...एशिया के

खतरे का भी उनमें विवरण है परन्तु उनमें इसका कोई जिक्र भी नहीं है कि पूर्व के लोगों का सभ्यता के प्रति क्या योगदान है। एशियाई संस्कृतियों का क्या मूल्य और महत्त्व है इसकी कोई जानकारी हमें अपने इतिहास साहित्य से नहीं होती, उनको पढ़ने के बाद सम्पूर्ण एशिया मोटे परदे के भीतर छिपा हुआ बना रहता है।'

एक जर्मन आलोचक जर्मन पुस्तकों के सम्बन्ध में शिकायत करता हुआ कहता है कि उनमें विश्व इतिहास का यही रूप देखने को मिलता है कि सभ्यता का उदय मिस्र और ग्रीस में हुआ हो आदि, फिर आधुनिक पश्चिमी संसार में उसका उन्नत रूप प्रकट होता है : वस्तुतः उन्नति और पश्चिमी संसार को एक-दूसरे का पर्याय मान लिया गया है। अंग्रेजी की एक पुस्तक के सम्बन्ध में जर्मन आलोचक ने इस प्रकार शिकायत की है : 'लेखक ने चीन को अंग्रेजी दृष्टिकोण से ही समझना चाहा है, और किसी रूप में चीन को देखने का प्रयत्न ही नही किया गया है।' इसी काल, अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य के सम्बन्ध में लिखी गयी अन्य अंग्रेजी की पुस्तकों के सम्बन्ध में एक अंग्रेज आलोचक के विचार इस प्रकार हैं :

'भारतीय सैनिक क्रान्ति (सिपाही विद्रोह) की समीक्षा करने में पुस्तकों के लेखक ऐसी किसी बात का उल्लेख नही करते जो ब्रिटेन के प्रतिकूल पड़ती हो, यद्यपि कहा यही जाता है कि ब्रिटेन ने बदला लेने के लिए बड़े क्रूर और निर्मम कार्य किये। अधिक-से-अधिक, इस सम्बन्ध में, इस प्रकार के ही उल्लेख कर दिये गये हैं कि 'अनावश्यक कठोरता और सख्ती दिखायी गयी।' किन्तु इस कठोरता और सख्ती के वैसे कोई विवरण नही दिये गये है जैसे कि तथाकथित भारतीय क्रूरताओं के सम्बन्ध में अंकित किये गये हैं।'

अमेरिकन पुस्तको की दशा भी इसी प्रकार की है :

'आलोच्य पुस्तको में ब्रिटेन के प्रति पक्षपात की भावना स्पष्ट है और उनमें ऐसी किसी भी बात का उल्लेख नही मिलता जो ब्रिटिश शासन की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल पड़ती हो। भारत में विदेशी शासन द्वारा दमन और शोषण के दृष्टान्त बहुत थोड़ी पुस्तकों में ही मिलते है। इसके प्रतिकूल इस प्रकार का चित्र प्रस्तुत किया गया है कि भारत में ब्रिटिश शासन-काल के अन्तर्गत जो कुछ भी किया गया उसका उद्देश्य भारत की भलाई करना ही था।'

ऊपर के विचार अमेरिकन पुस्तकों के सम्बन्ध में एक भारतीय आलोचक

के हैं। एक अंग्रेजी पुस्तक के सम्बन्ध में एक अन्य भारतीय आलोचक की शिकायत इस प्रकार है :

'ब्रिटिश लोगों की तुलना में काले लोगों की हीनता की बात बड़ी चतुराई के साथ प्रतिपादित की गयी है। जो विवरण प्रस्तुत किया गया है उसका भाव यही है कि काले लोग ब्रिटिश लोगों से बहुत भयभीत और आतंकित होते थे। लिविंग्स्टन के एक इशारे मात्र से देशी दास-व्यापारी भयाक्रान्त होकर भाग खड़े हुए और दासों को वहीं छोड़ दिया, यद्यपि वे काफी बड़ी सख्या में और सशस्त्र भी थे। ऐसे विवरण पढ़कर यदि ब्रिटिश बच्चों में यह भावना जम जाय कि वे हर अवस्था में काले लोगों पर अपना हुक्म चला सकते हैं, तो कोई आश्चर्य की बात नही।'

इस प्रकार हमारा ध्यान पूर्व से बढकर अफ्रीका की ओर चला जाता है और यह संकेत मिलने लगता है कि त्वचा के रग की समानता-जैसे स्वल्प आधार पर भी अफ्रीकावासी तथा भारोपीय लोग एक होकर गोरों के जातिश्रेष्ठता जनित दंभ के विरोध में खड़े हो सकते है।

पूर्व के लोगो से श्रेष्ठ होने की सामान्यतया व्याप्त भावना को बढ़ाने के सम्बन्ध में ब्रिटिश पुस्तकें (स्वय ब्रिटिश आलोचको के विचार से) काफी दोषी ठहरती हैं। एक लेखक की इस सम्बन्ध में विशेष रूप से निन्दा की गयी है। उसका दृष्टिकोण असहिष्णु तथा जातीय श्रेष्ठता वाला है। वह 'अराजकता', 'क्रूरता', 'देशी लुटेरे', 'पाशविकता' जैसे विशेषणो का प्रयोग करते हुए 'देशवासियों को युद्धक्षेत्र में छल-कपट दिखाने वाले तथा युद्धक्षेत्र के बाहर कायर' कहता है। कितनी ही पाठ्य-पुस्तकों मे 'इस प्रकार की समीक्षा प्रस्तुत की गयी है जिसमें 'भारत मे ब्रिटिश शासन की सुदीर्घ तथा गौरवपूर्ण गाथा' की प्रशस्ति की गयी है। यह ऐसा विचार है जो बहुत अशो में भले ही ठीक हो, परन्तु केवल इतने कथन के आधार पर हमें एकांगी चित्र की ही जानकारी मिलती है। विशेषतः इस प्रकार के कथन तो एकदम एकागी ही कहे जायेंगे '४००० वर्षों तक भारतवासी जिस शान्ति, व्यवस्था और न्याय से वंचित रहे उसे अन्ततः उन्होंने ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत प्राप्त किया।'

जैसा कि भारतीय आलोचकों का कहना है, इन विवरणों का आशय यही है कि भारत में ब्रिटिश शासन काल में जो कुछ भी किया गया उसका उद्देश्य भारत की

भलाई करना ही था। 'कोई आश्चर्य नहीं कि इन विवरणों को पढ़कर ब्रिटेन के बच्चों में यह भावना दृढ़ हो कि वे प्रत्येक अवस्था में काले लोगों से अपने आदेशों का पालन करा सकते हैं।'

हममें से कुछ लोगो को यह जानकर भले ही कुछ सन्तोष हो कि 'लौह आवरण' वाले देशों में भी अवस्था लगभग इतनी ही गिरी हुई है। इसमें सन्देह नही कि जिन देशो का कोई भी भाग एशिया के अन्तर्गत नही आता उनकी तुलना में रूस की पुस्तकों में पूर्व के बारे में अधिक विस्तृत विवरण रहते हैं और अन्य छोटे कम्यूनिस्ट देशों ने भी इस दिशा में रूस का अनुकरण किया है। चेकोस्लोवाकिया को पूर्वीय देशों के इतिहास में जातियों, दास बनाने वाले वर्गों और शोषण-जैसे प्रिय विषयों के वर्णन के लिए सहज सामग्री प्राप्त होती है। हंगरी की पुस्तको में चीन के बारे में अच्छा-खासा विवरण रहता है जहाँ की स्थानीय सभ्यता किसान संस्कृति तथा कई पीढ़ियों वाले संयुक्त परिवार पर आधारित होने के कारण कम्यूनिस्ट विचारों के प्रसारण के लिए बहुत उपयुक्त बैठती है। फिर भी 'प्रावदा' के लेख में उजबेकिस्तान के सोविएट रिपब्लिक के सम्बन्ध में निम्न शिकायत की गयी है

'पूर्व के कुछ बहुत बड़े देशों—जैसे चीन, भारत, इण्डोनेशिया आदि—के सम्बन्ध में गम्भीर वैज्ञानिक खोज नही की गयी है। माध्यमिक स्कूलों में इतिहास के शिक्षण में सुधार करने की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए। वर्तमान पाठ्य-क्रम में पूर्व के सम्बन्ध में पर्याप्त समय नही दिया जाता।'

समस्या के इस सिंहावलोकन की समाप्ति अमेरिकन पुस्तको के अमेरिकन आलोचकों के विचारों से करना अधिक उपयोगी होगा और इससे शायद हमें दोष के निराकरण के लिए सुझाव भी मिल सकेंगे।

'जिन पाठ्य पुस्तकों की जाँच की गयी है उन सबमें विद्यार्थियों को पूर्व के लोगों की संस्कृति, सभ्यता और जीवन स्तर का अध्ययन पश्चिमी दृष्टिकोण अर्थात् उच्च औद्योगिक सभ्यता के दृष्टिबिन्दु से कराया जाता है। इससे हमारे बालक-बालिकाओं में श्रेष्ठता, दया तथा कृपा दिखाने का भाव पैदा होता है।'

इसके निराकरण के लिए सुझाव यह दिया गया है कि अमेरिका के लोग न केवल अपने स्कूलों के इतिहास के बोझिल पाठ्य क्रम में पूर्व सम्बन्धी विवरणों के

समावेश के लिए तैयार हों बल्कि साथ ही नये विवरणों को स्थान देने के लिए परम्परागत पाठ्य सामग्री को काटकर संक्षिप्त करने पर भी सहमत हों।

'अमेरिका के सम्बन्ध में जो पाठ्य सामग्री पुस्तकों में सामान्यतया दी जाती है उसका काफी बड़ा अंश एशियाई इतिहास की मुख्य बातों की तुलना में कहीं कम महत्त्व का है जो प्रायः उपेक्षित रहता है...जो विषय इतिहास की पाठ्य-पुस्तकों में परम्परागत रूप में सम्मिलित किये जाते रहे हैं उनके सम्बन्ध में पुनरावलोकन की आवश्यकता है और यह देखना है कि उनका समावेश किया जाना कहाँ तक उचित है।'

स्विटजरलैंण्ड के लोग भी अपनी सहज व्यावहारिक बुद्धि के आधार पर इसी परिणाम पर पहुँचे हैं :

'स्विटजरलैण्ड के सभी विश्वविद्यालयों में एशिया के इतिहास के अध्यापन के लिए विभाग खोले जाने चाहिए। इतिहास की डिग्री परीक्षा की तैयारी करने वाले सभी विद्यार्थियों के लिए एशियाई समस्याओं के कम-से-कम एक पाठ्य क्रम की तैयारी करना अनिवार्य होना चाहिए।...पाठ्य पुस्तकों के लेखकों, माध्यमिक स्कूलो के शिक्षकों तथा विश्वविद्यालयो के शिक्षकों के लिए एशिया के विषयों के संक्षिप्त इतिहास ग्रन्थ तैयार किये जाने चाहिए।'

कहने का तात्पर्य यह है कि पश्चिमी देशो के विश्वविद्यालय जब तक निम्न बातों की व्यवस्था नही करते तब तक वे अपने एक प्रमुख कर्तव्य से विमुख रहते हैं : (१) संसार के तीन चौथाई भाग के इतिहास और संस्कृति के अध्ययन के साधन नही जुटाते, (२) पूर्व के सम्बन्ध में नितान्त अपर्याप्त जानकारी ही उपलब्ध रखें और (३) ऐसे शिक्षक नही तैयार करते जो भावी नागरिकों को जानकारी दे सकें।

× × ×

पूर्व के सम्बन्ध में पश्चिम के अज्ञान तथा नासमझी की समस्या से एकदम भिन्न एक और समस्या है। यह है विभिन्न पश्चिमी राष्ट्रों के बीच एक दूसरे के सम्बन्ध में सही जानकारी न होने की। पश्चिमी राष्ट्र एक दूसरे के प्रश्नों और समस्याओ को समझते ही नहीं। यह इसलिए नहीं कि वे इन्हें समझने की योग्यता नहीं रखते बल्कि इसलिए कि वे उन्हें समझने की इच्छा और प्रयत्न ही नहीं करते।

अत्यन्त आधुनिक कालों के सम्बन्ध में भी, जिनके बारे में इतिहास के जानकारों को बहुत-से कागज-पत्र अभी उपलब्ध नही हैं, हम सबको इतना तो मालूम ही है कि हम उनके बारे में यदि अत्यन्त सूक्ष्म नहीं तो मोटे तौर से अपनी राय निर्धारित कर सकें। यह निश्चित करने के लिए कि एलसेस प्रान्त जर्मन-प्रमुख है या फ्रेंच-प्रमुख किसी सूक्ष्म खोज और अनुसन्धान की आवश्यकता नहीं है, इस विषय के सभी तथ्य और आँकडे हमारे सामने मौजूद हैं। इस सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय तनाव और संघर्ष का कारण यह नहीं है कि जर्मनी अथवा फ्रास के लोग तथ्यों और आँकड़ों से अनभिज्ञ हों, वस्तुतः कारण यह है कि उन्ही तथ्यो और आँकड़ों का अर्थ फ्रेंच और जर्मन लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से लगाते हैं।

परन्तु पूर्व और पश्चिम के बीच भ्रान्ति और अज्ञान के कारण इससे एकदम भिन्न हैं। पश्चिम का सामान्य नागरिक पूर्व के बारे मे बहुत कम जानकारी रखता है, उसे वहाँ की बातें मालूम है जो उसकी दृष्टि मे अत्यन्त विचित्र और असाधारण हैं। जिन बातो को पूर्व के लोग अत्यन्त मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण मानते हैं उनके सम्बन्ध में भी पश्चिम के विश्वविद्यालयो के विद्वानो की जानकारी बहुत ही कम है। और अपने इस अज्ञान को दूर करने के लिए किसी पश्चिमी विश्वविद्यालय का विद्वान् पूर्व के किसी विश्वविद्यालय में जाकर अध्ययन करने की बात कभी नहीं सोचेगा जब कि इसके विपरीत उदाहरणार्थ, फ्रास, ब्रिटेन, जर्मनी या रूस के किसी विश्वविद्यालय का अध्यापक अपने ज्ञान की पूर्ति के लिए रूस, जर्मनी, ब्रिटेन या फ्रांस के विश्वविद्यालय मे अध्ययन के लिए सहज ही चला जायगा। पूर्वी देशों के इतिहास के सम्बन्ध मे एक सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि स्वयं उन देशों के लोगो को भी उसकी जानकारी नहीं है। चीन में पुरानी घटनाओ के सम्बन्ध में तिथि क्रम की तालिकाओं की बडी अच्छी परम्परा मौजूद है और थोड़े-से ही परिश्रम से उनका बहुत अच्छा उपयोग किया जा सकता है। उनके २४ क्रमबद्ध इतिहास ग्रन्थ विश्व के इतिहास साहित्य की अत्यन्त उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। परन्तु उनमें उस तटस्थ दृष्टिकोण का अभाव है जिसे पश्चिमी विद्वान् बहुत महत्त्व देते हैं। साथ ही चीन के अभिलेख पश्चिम की दृष्टि से सहज सुलभ नहीं हैं। भारत में तो स्थिति इससे भी कही अधिक गयी बीती है। यूरोपीय साहित्य में चीन के इतिहास के सम्बन्ध में कोई सन्तोषजनक ग्रन्थ भले ही उपलब्ध न हो परन्तु

भारत के सम्बन्ध में तो अवस्था यह है कि भारत के इतिहास पर कोई सन्तोषजनक ग्रन्थ किसी और साहित्य में उपलब्ध होने की तो बात ही क्या स्वयं भारतीय साहित्य में भी ऐसा ग्रन्थ उपलब्ध नही है। हिन्दुओं के अधिकांश श्रेष्ठ विचारकों की दृष्टि में इतिहास का कोई महत्त्व और उपयोगिता ही नहीं रही है। उनके अनुसार इतिहास का कोई अस्तित्व ही नहीं है, एक दृष्टि से यह विचार बहुत कुछ सही है इतिहास तो एक भ्रम और छलना है (इस हद तक शायद ही कोई पश्चिमी व्यक्ति सहमत होने को तैयार हो) और इसलिए वह एकदम निरर्थक वस्तु है (शायद ही कोई पश्चिमी इतिहासकार इसे स्वीकार करे, यद्यपि एक अमेरिकन करोड़पति व्यक्ति ने इस भारतीय मत की अपने अदार्शनिक ढंग से पुष्टि करते हुए कहा है 'इतिहास कोरा वितंडावाद है' और उसकी इस राय को बहुधा दुहराया जाता है।) फलतः इतिहास का जो भाव और तात्पर्य पश्चिमी लोग मानते हैं उस रूप में भारतीयों ने न तो अपना इतिहास वास्तव मे लिखा ही है और न उन कागजातों तथा आधारभूत सामग्री को सुरक्षित ही रखा है जिसके सहारे पश्चिमी विद्वान् भारत का इतिहास प्रस्तुत कर सकें। चीन में उसका कोई ऐसा इतिहास तैयार नही है जिससे पश्चिमी जिज्ञासु की तृप्ति हो सके, परन्तु भारत में तो उसका कोई इतिहास तैयार रूप में उपलब्ध न होने के साथ ही इतिहास तैयार करने की प्रवृत्ति पर यदि निषेध नही तो उसे अनुत्साहित करने की भावना मौजूद है। यूरोप के सम्पर्क में आने के पहले के भारत का ऐसा इतिहास, जो पश्चिमी विद्वानों को सन्तोष दे सके, तैयार करने के लिए उपलब्ध सामग्री उसी कोटि की है जैसे कि होमर की कविताएँ—इससे अधिक कोई सामग्री नही मिलेगी। यह सब कहने में हमारा भाव यह कदापि नहीं है कि भारत का इतिहास लिखा जाना सम्भव ही नही है। कहने का आशय यही है कि आज से दो-तीन सौ वर्ष पहले पश्चिमी देशों के इतिहास लेखक जिस अवस्था में थे प्रायः उसी अवस्था से भारतीय इतिहास के अग्रणी लेखकों को अपना कार्य प्रारम्भ करना होगा। पश्चिम के विश्वविद्यालयों में, १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध काल के बाद से जो इतिहास ग्रन्थ तैयार होते रहे हैं उस कोटि के भारतीय इतिहास लेखन की आवश्यकता आज नहीं है। इस काम के लिए तो किसी गिबन या मेकाले-जैसे विद्वान् की आवश्यकता है जो भारतीय साहित्य ग्रन्थों की छानबीन करके जनसाधारण के पढ़ने योग्य इतिहास लिखे और

इस प्रकार लिखे गये इतिहास ग्रन्थों के संशोधन का काम विश्वविद्यालयों के विद्वानों के हाथों सम्पन्न हो ।

कम से कम पिछले दो सौ वर्षों से पूर्व के सम्बन्ध में पश्चिम के लोग यदा-कदा रुचि दिखाते रहे हैं । यह उत्सुकता ईस्ट इण्डिया कम्पनी के वैभव काल से प्रारम्भ हुई जब भारत सोने का देश समझा जाने लगा और चीन के सम्बन्ध में जैसी-तैसी बातो की जानकारी रखने के फैशन की सम्पूर्ति के रूप में वाल्टेयर तथा गोल्ड-स्मिथ ने वास्तविक बौद्धिक जिज्ञासा की पुष्टि का प्रयत्न किया । परन्तु वाल्टेयर और गोल्डस्मिथ की उत्सुकता यूरोप की बातों को गलत सिद्ध करने की अधिक थी न कि चीन की बातो को सही सिद्ध करने की । इसी प्रकार ईस्ट इण्डिया कम्पनी को भारत की संस्कृति की अपेक्षा उसके धन में अधिक रुचि थी । तब से समय-समय पर यूरोप के प्राच्य विषयों सम्बन्धी विद्वानो ने भारत के विभिन्न विषयों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है । परन्तु ऐसा शायद ही कोई पश्चिमी विद्वान् हुआ हो जिसने सम्पूर्ण पूर्वी संसार पर समष्टि रूप से प्रकाश डालने का प्रयत्न किया हो । इन विद्वानों का ध्यान सबसे पहले संस्कृत की ओर गया और पश्चिम के लोगो को यह अनुभव कराया गया कि इस भाषा के साहित्य में ज्ञान की वह निधि है जिसकी पश्चिम ने कभी कल्पना भी नही की होगी । परन्तु ज्ञान-रत्नों की यह खान अधिकांश में बन्द ही पड़ी रही है और यदि इस खान की कभी कोई खुदाई तथा रत्नों की खोज की भी गयी है तो पश्चिम में कुछ विशेषज्ञों को छोड़कर सामान्य जनता उसके लाभ से वंचित ही रही है । ऐसे शिक्षित यूरोपियनों की संख्या बहुत ही थोडी होगी जिन्होने संस्कृत के किसी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का मूल रूप में या, अब उपलब्ध अनुवाद रूप में, अध्ययन किया हो । यह अवस्था तब है जब कि १८वीं शताब्दी में ही एक अति विख्यात प्राच्य विद्या विशारद (विलियम जोन्स) ने पश्चिम वालों को विश्वासपूर्वक बतलाया था कि 'संस्कृत भाषा, उसका जन्म चाहे जिस काल में हुआ हो, का स्वरूप अद्भुत है; वह ग्रीक से अधिक पूर्ण और परिपक्व तथा लैटिन से अधिक व्यापक एवं विस्तीर्ण तथा इन दोनों ही से अधिक मँजी तथा निखरी हुई है ।' पश्चिम के वे लोग जो समझते हैं कि यूरोप के स्कूलों तथा विश्वविद्यालयों में लैटिन और ग्रीक को पाठ्यक्रम का एक प्रमुख विषय न रखने से वहाँ के लोगों की बुद्धि के विकास में भारी कमी आ जायगी जरा यह

सोचने का कष्ट उठायें कि एशिया की किसी भी प्रौढ़ भाषा और उसके समृद्ध साहित्य को अपने स्कूलों तथा विश्वविद्यालयों में पढाई का मुख्य विषय न बनाकर उन्होंने अपने बौद्धिक विकास को कितनी क्षति पहुँचायी है। गत लगभग ५०० वर्षों में लैटिन भाषा (और इससे कुछ कम मात्रा में ग्रीक भाषा) के नियमित अध्ययन ने यूरोप की चिन्तन शैली का स्वरूप स्थिर किया है। इसी प्रकार ग्रीक साहित्य (और इससे कुछ कम मात्रा में लैटिन साहित्य) के नियमित अध्ययन से यूरोप को अपने विचारों की आधारभूत सामग्री प्राप्त हुई है। इन दोनों के नियमित अध्ययन के अभाव में हमारी कितनी बड़ी हानि हुई होती इसका हम अन्दाज भी नहीं लगा सकते। उस दशा में पश्चिमी दर्शन, कविता तथा कला का स्वरूप आज से एकदम भिन्न ही होता। इसी आधार पर हम कल्पना कर सकते हैं कि केवल पाँच ही नहीं बल्कि पचीस शताब्दियों तक चीनी, संस्कृत अथवा भारत की कितनी ही अन्य भाषाओं तथा फारसी या अरबी भाषा ('जो मनुष्य की बुद्धि और वाणी के वरदान स्वरूप प्राप्त अति श्रेष्ठ और अर्थ-गर्भित भाषाओं में से हैं')[१] में लिखित साहित्य की जानकारी और ज्ञान से वंचित रहकर हमने अपनी कितनी बड़ी हानि की है। 'लार्ड मेकाले ने अपनी नितान्त अज्ञतावश प्राच्य विद्या की जो घोर निन्दा की थी उसका असर ब्रिटेनवासियों के मन से अब भी पूरी तरह दूर नही हुआ है और पिछले डेढ़ सौ वर्षों से अंग्रेजो की अधिक बुद्धिमान् पीढ़ी ने एशिया के लोगों से जो सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित किये उनकी इससे पहले के काल में घोर उपेक्षा के खेदपूर्ण परिणामों पर आज हम इतने समय बाद दुःखी हो रहे हैं।'[२]

पूर्वीय संस्कृति के जिस अंश की पश्चिम को सबसे अधिक जानकारी है वह 'मध्यपूर्व' कहे जाने वाले क्षेत्र के सम्बन्ध में है जिसे हम मोटे तौर से अरब लोगों का प्रदेश कह सकते हैं। यूरोप के 'मध्ययुग' की समाप्ति के समय तक अरब लोगों का सांस्कृतिक प्रभाव पश्चिम में काफी व्यापक हो चुका था। उनकी वास्तु-

१. ई. अतिया : 'दि अरब्स' (पेंग्विन बुक्स)।
२. आरबेरी : ब्रिटिश ओरिएन्टलिस्टस् (कालिन्स)।

कला के सर्वश्रेष्ठ नमूने और उनके दो सर्वप्राचीन विश्वविद्यालय स्पेन में थे। उनके विचारों का प्रसार पश्चिमी यूरोप के विद्या-केन्द्रों तक हुआ था और उनके प्रिय दार्शनिक अरस्तू का परिचय उसके मूल ग्रीक ग्रन्थो के अरबी रूपान्तर के लैटिन अनुवादों द्वारा पश्चिमी यूरोप के शिक्षकों एवं विद्वानो को हो चुका था। धर्म युद्धों में अरबों के विरुद्ध लड़कर पश्चिमी यूरोप के लोग उनके सम्पर्क में आये और उनसे नुकीले मेहराब तथा मीनारें बनाने की कला सीखी (इन्हें 'कम्पेनिल' कहा गया)। इसी प्रकार अरब वास्तु-कला की अन्य विशेषताएँ, जैसे एक केन्द्र वाले महल—जिनमें जगह-जगह पर खुली खिड़कियाँ और समकोण वाले दरवाजे होते थे—आदि भी पश्चिम ने प्राप्त की। सोफ़े पर बैठना और 'रूबबे' तथा 'सीना' का प्रयोग भी पश्चिम ने अरबो से प्राप्त किया। इन सब बातो से किसी हद तक पश्चिम वाले आज भी परिचित लगते हैं। परन्तु विश्वविद्यालयों के विकास में अग्रणी होने के अरब दावे या अरबों की सौन्दर्यप्रियता के सबसे विशिष्ट तथा आत्मिक स्वरूप, अरबी कविता के गुणो के सम्बन्ध में पश्चिम के लोग, अत्यन्त स्वल्प चेतना रखते हैं। पश्चिम में ऐसे इतिहास विशेषज्ञ शायद इने-गिने ही होंगे जिन्होने इब्न खल्दून का नाम सुना हो। यह वह नाम है जिसके बारे में कुछ पश्चिमी तथा पूर्व के भी इतिहासकारो का दावा है कि वह सभी देशो और सभी समयो मे सबसे बड़ा इतिहास-चिन्तक हुआ है। आधुनिक काल के सम्बन्ध मे हमारा अरब इतिहास-विषयक अज्ञान और भी बढ़ा हुआ है। उदाहरण के लिए अधिकाश यूरोपीय पुस्तकों को पढ़कर इस तथ्य का पता किसे चलेगा कि मिस्र के आधुनिक इतिहास का सबसे महान् व्यक्ति क्रेलर, किचनर या नेपोलियन नही अपितु मोहम्मद अली है? गत सौ वर्षों मे मिस्र की आश्चर्यजनक उन्नति का प्रारम्भ करने वाला यही महापुरुष था, जब कि ब्रिटिश इतिहास पुस्तको मे इसे यदि धोखेबाज नही तो अवसरवादी कहने की प्रवृत्ति सामान्यतया रही है और इसकी प्रसिद्धि का कारण यही दिया गया है कि उसने पामर्सटन का विरोध करने की मूर्खता दिखलायी। कौन लोग अरब कहलाते हैं, इसे भी हम ठीक तरह से नही समझते। अंग्रेजी की कितनी इतिहास पुस्तको में यह बतलाया गया होगा कि मिस्र भी अरबो का देश है और वे पश्चिम में मराको तक तथा दक्षिण में सहारा से भी आगे तक फैले ए हैं। और इस सम्बन्ध में अंग्रेजी पढ़ने वाले कितने लोग यह जानते है कि

सूडान केवल 'एंग्लो-मिस्र' देश ही नही है और उसकी पश्चिमी सीमा देशान्तर की एक सीधी रेखा के रूप में न होकर बहुत विस्तीर्ण है। इस प्रकार वह सम्पूर्ण उत्तरी अफ्रीका में फैला हुआ है और लगभग अटलांटिक महासागर तक उसकी सीमा का विस्तार है। अरबों के धर्म के सम्बन्ध में भी हम सही शब्द का प्रयोग नही करते। इसे हम 'मोहमडन' नाम से पुकारते हैं और उसे भिन्न-भिन्न अक्षरों से लिखते हैं। यह बात हमारे ध्यान में ही नही आती कि हमें इस शब्द की वर्तनी के विवाद में न पड़कर वस्तुतः इसका प्रयोग ही नही करना चाहिए। कारण यह कि जो लोग अपने को मुसलमान कहते हैं वे अपने लिए 'मोहमडन' शब्द का प्रयोग अत्यन्त अधार्मिक मानते हैं। उनकी दृष्टि में इस शब्द का अर्थ है 'मोहम्मद की पूजा करने वाला', जैसे ईसाई का अर्थ है ईसा को पूजने वाला। और इस शब्द में निहित मोहम्मद की पूजा की भावना संसार के सबसे कट्टर धर्म वालों के लिए नितान्त आपत्तिजनक है।

फिर भी सुदूरपूर्व के लोगो तथा उनकी संस्कृति के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान जितना अधूरा और भ्रष्ट है उसकी तुलना में अरबों के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान की भ्रष्टता बहुत ही कम है। पश्चिम का जनसाधारण (स्मरण रहे कि आज का यही जनसाधारण अभी कल तक किसी स्कूल में विद्यार्थी के रूप में पढ़ रहा था) आज भी 'भारतीय' और 'हिन्दू' के भेद को स्पष्ट रूप से नहीं समझता और उसे यह भी नही मालूम कि किसी को 'चाइना मैन' कहना उसका अपमान करना है। उसे कभी बतलाया ही नही गया है कि ऐतिहासिक दृष्टि से चोटी रखाने की परम्परा (पिगटेल) या पगोडा चीनी विशेषताएँ नही हैं। उसे पता ही नही है कि भारत-वासी कौन-सी भाषा बोलते हैं या चीनी लोग किन देवताओ की पूजा करते हैं। वह चीनी चित्रकला के नमूने, जापान का छापे का काम और भारतीय कालीन पसन्द करता है, भारतीय वास्तुकला भी उसे रोचक लगती है (विशेषतया ब्रिटिश लोगों द्वारा उसका परिष्कार किये जाने के बाद) किन्तु जिन आवश्यक सांस्कृतिक तत्वों के आधार पर भारत, चीन और पूर्व के अन्य देशों ने अपना वर्तमान आदर-पूर्ण स्थान प्राप्त किया है उनको पश्चिम का जनसाधारण रहस्यपूर्ण मानकर ही सन्तोष कर लेता है। इसमें सन्देह नही कि संसार में हर जगह का सामान्य व्यक्ति इसी प्रकार की अस्पष्ट धारणाओं से युक्त होता है। फिर भी स्कूलों की कक्षाओं

में पढ़ाने वाले शिक्षकों के विचार इस प्रकार से अनिश्चित और अस्पष्ट नहीं होने चाहिए। पूर्व के सम्बन्ध में जिन बातों को हम पढ़ाते हैं और जिनकी जानकारी हमसे अपेक्षित है उनके सम्बन्ध में हमारे विचार बहुत निश्चित और स्पष्ट नहीं हैं।

हमारा भूगोल सम्बन्धी प्रारम्भिक ज्ञान भी दोषपूर्ण है। हिमालय की स्थिति के कारण भारत की उत्तरी सीमा तो हमें ठीक तरह से मालूम है परन्तु चीन की उत्तरी सीमा क्या है यह हम नहीं जानते। जब हम मलय की चर्चा करते हैं तो हमारा ध्यान केवल एक ऐसे छोटे प्रायद्वीप के लोगों की ओर जाता है जो पहले ब्रिटिश शासन के मातहत थे और हमें यह मालूम ही नही होता कि वास्तव में मलय के अन्तर्गत करोड़ो छोटे टापू हैं जो भारतीय महासागर से लेकर प्रशान्त महासागर तक फैले हुए हैं। पूर्व के विभिन्न भूभागो पर किसी-न-किसी समय यूरोप के जिन-जिन देशो के लोगो का अधिकार था उन्ही के आधार पर ऐसे भूभागों का नामकरण करने से विश्व के भूगोल तथा जातियों सम्बन्धी हमारा दृष्टिकोण बहुत ही असन्तुलित हो जाता है। 'डच इंडोनीसिया', 'फ्रेंच इंडोचाइना', 'ब्रिटिश इरीट्रिया', 'इटालियन इरीट्रिया', 'ब्रिटिश ईस्ट अफ्रीका', 'ब्रिटिश वेस्ट अफ्रीका', 'पुर्तगीज ईस्ट अफ्रीका', 'पुर्तगीज वेस्ट अफ्रीका', 'बेल्जियन कांगो' जैसे नामो से इन विभिन्न भूभागो की एकरूपता की भावना को आघात पहुँचता है। वस्तुतः इन भूभागों को विभिन्न यूरोपीय सरकारो ने अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र के आधार पर पृथक् करके वहाँ यूरोपीय सिद्धान्तों के अनुरूप अपना शासन चलाया है। गैर यूरोपीय भूभागों को इस प्रकार के पृथक् यूरोपीय नाम देकर जिस भ्रान्ति का सूत्रपात किया गया वह यूरोप में पढ़ी जाने वाली इतिहास तथा भूगोल की पुस्तकों में सर्वत्र व्याप्त है और इस प्रकार एशिया तथा अफ्रीका के भूभागों तथा वहाँ के निवासियों के बारे में गलत और अवास्तविक विचारों का प्रचार होता है। आधुनिकतम नक्शों की बात छोड़ दीजिए, किन्तु इससे पहले का अफ्रीका का कोई भी नक्शा उठाकर यदि देखा जाय तो उसके विभिन्न रंगो में एक भी ऐसा नहीं मिलेगा जो अफ्रीका का अपना राष्ट्रीय रंग हो। (सभी रग किसी-न-किसी यूरोपीय सत्ता की उस क्षेत्र पर राजनीतिक प्रभुता और शोषण का परिचायक होगा)। यही बात बहुत अंशों में एशिया के सम्बन्ध में भी सही

उतरती है; दोनो मे अन्तर इतना ही है कि एशिया के नक्शे में यूरोपीय रंगों की प्रभुता अफ्रीका-जैसी व्यापक नही है।

संसार के सम्बन्ध में पश्चिम में व्याप्त भ्रान्त भौगोलिक धारणाएँ काफी अनर्थकारी हैं परन्तु उससे कही अधिक अनर्थ पूर्व के धर्मों सम्बन्धी व्याप्त भ्रान्तियों से होता है। पश्चिम के इतिहास के सम्बन्ध में धर्म का विशेष महत्त्व नहीं है और वह बहुधा उपेक्षणीय विषय बना रहता है; परन्तु पूर्व के इतिहास में उसका अपना महत्त्व है और उसकी उपेक्षा नही की जा सकती। यह देखकर स्तंभित रह जाना पड़ता है कि विश्व-इतिहास सम्बन्धी प्रायः सभी अंग्रेजी पुस्तकों में उस बात का कोई उल्लेख नही किया जाता जिसे कितने ही अग्रेज लोग सम्पूर्ण विश्व-इतिहास की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण घटना मानते है। अंग्रेजी की इतिहास पुस्तकों मे ईसा पूर्व की घटनाओ के बाद जब घटनाओ का अंकन-क्रम ईसवी सन् के अनुसार किया जाता है तो प्रायः किसी भी पुस्तक में यह नही बतलाया जाता कि किस आधार पर सवत् के अंकों का क्रम परिवर्तन किया गया है। उनमें ईसा पूर्व की पहली शताब्दी में जूलियस सीजर के सम्बन्ध में सविस्तार विवरण दिया जाता है और पहली ईसवी शताब्दी में हुए क्लाडियस तथा नीरो के भी विस्तृत विवरण पढ़ने को मिलते है। इसी प्रकार ईसा पूर्व तथा ईसवी सन् के बीच के काल मे हुए आगस्टस के बारे में भी बहुत कुछ कहा जाता है परन्तु इस गणना-क्रम के मूल आधार ईसा-मसीह के बारे मे शायद ही कोई बात अंकित की जाती हो। अंग्रेजी की पुस्तकों में उन्हें 'इतिहास' के बाहर के किसी क्षेत्र का मान कर भुला दिया जाता है। अंग्रेजी की इतिहास पुस्तको में आगे चलकर ईसाई धार्मिक संगठनों का सविस्तार वर्णन तो मिलता है परन्तु यह नही बतलाया जाता कि ईसाई धर्म की उत्पत्ति कैसे हुई या मानव जाति के लिए उसका धार्मिक महत्त्व क्या है। रूसी पुस्तकों में जो रुख 'रिफार्मेशन' (प्रोटेस्टेन्ट धर्म की उत्पत्ति) के सम्बन्ध मे अपनाया जाता है वही दृष्टिकोण अंग्रेजी इतिहास पुस्तकों में ईसाई धर्म के सम्बन्ध में दिखाई देता है। वे इसे केवल एक सस्था या संगठन का स्थान देती हैं और उसके भाव या विचार पक्ष की एकदम उपेक्षा करती हैं। धार्मिक आस्था के अभाव वाले वर्तमान समय में जब प्रोटेस्टेन्ट गिरजाघर खाली पड़े दिखाई देते है इस प्रकार की मनोवृत्ति सुविधापूर्ण हो सकती है। कैथोलिक धर्म वाले देशों में, जहाँ गिरजाघरों में भीड़

रहती है, ईसाई धर्म का ऐतिहासिक विवरण देने में ईसामसीह इस प्रकार उपेक्षणीय नही हैं और वहाँ के बच्चों के मन पर यह प्रभाव नही पड़ने दिया जाता कि 'न्यू टेस्टा-मेन्ट' में वर्णित बातें इतिहास की पुस्तकों में स्थान पाने योग्य प्रामाणिकता नहीं रखती। पूर्व के इतिहास के सम्बन्ध में इतिहासकारो को सबसे पहली बात तो यह समझ लेनी होगी कि धर्म को इतिहास से अलग नही रखा जा सकता। एशिया के अधिकाश लोगो के जीवन में धर्म का महत्त्व और उसकी व्यापकता अधिकाश यूरोपियनों और अमेरिकनो के जीवन की तुलना में कहीं अधिक मात्रा में है। दूसरे, पूर्व का धर्म कुछ अद्‌भुत और बेडौल बातों में सन्निहित नही है जैसी कि बहुत से पश्चिमी लोगों की कल्पना है। पूर्व के धर्मों के मुख्य अंग फकीर, योग, बेतुके समारोह, पटाखे छुडाना, धूप-दीपदान या पितरों की पूजा नही है। वे अगणित मन्दिर और मठ भी उसके वास्तविक स्वरूप के परिचायक नही है जिनमें हजारो देवी-देवताओ में से किसी विशेष की प्रतिष्ठा और आराधना की जाती है। पूर्व के धर्मों का प्राण उनकी नैतिक और आध्यात्मिक निष्ठाएँ एवं मान्यताएँ हैं। यह सही है कि अधिकांश एशियावासी अपने धर्मों के आधारभूत सिद्धान्तो के अनुरूप आचरण नही करते, परन्तु यही बात तो पश्चिम के लोगो पर भी लागू होती है। पश्चिम के समान ही पूर्व में भी श्रेष्ठ धार्मिक निष्ठा वाले लोग अपने धर्म के प्रति उतने ही ईमानदार हैं और वे अपने धर्मों को उतना ही सही तथा यथार्थ मानते हैं।

धार्मिक विश्वासो में निहित सत्य के प्रश्न पर पश्चिम के इतिहासकारो को पहले की अपेक्षा अधिक गम्भीरतापूर्वक विचार करना होगा। पश्चिम के समान ही पूर्व में भी ऐसे लोग बहुत बडी संख्या में हैं जो धर्म के प्रति आस्था और विश्वास नहीं रखते—न वे पश्चिम के धार्मिक सिद्धान्तो को मानते है और न पूर्व के। परन्तु यह नही कहा जा सकता कि धार्मिक विश्वास का अभाव एशिया के लोगो में आम-तौर से या व्यापक रूप से है। एशिया में धर्म के प्रति—विभिन्न धर्मों के प्रति पूरी आस्था है। बात ऐसी नहीं है कि वे ईसाई धर्म के प्रति विश्वास ही नही करते बल्कि वास्तव में वे बड़ी सरलता से इसमें विश्वास करने को तैयार हो जाते हैं। धार्मिक सहिष्णुता के मामले में एशिया वाले पश्चिम की अपेक्षा कही अधिक उदार हैं। सरकार द्वारा किसी भी धर्म में हस्तक्षेप न किये जाने तक ही यह धार्मिक उदारता सीमित नहीं रहती बल्कि धर्म के क्षेत्र में गैर-सरकारी हस्तक्षेप भी उन्हें

सहन नहीं है। पादरियों के प्रचार कार्य को भी वे इसी प्रकार का हस्तक्षेप मानते है और उसे धार्मिक असहिष्णुता की संज्ञा देते हैं। पूर्व में सहिष्णुता का स्वरूप सुप्त अथवा सहन करने वाला मात्र न होकर चेतन और सक्रिय है। उसमें यह भाव भी निहित है कि अन्य धर्मावलम्बियों के धर्म स्वयं अपने धर्म-जैसे श्रेष्ठ भले ही न हों परन्तु वे भी हेय नही श्रेष्ठ ही हैं। इसीलिए ईसाई धर्म की दैवी चमत्कार की बातों को मानने के लिए वे सहज ही तैयार हो जाते हैं। उन्हें इन चमत्कारो में स्वयं अपने धर्मों की दैवी लीला की समानता दिखाई देती है और ईसामसीह के देवत्व की बात उन्हें भगवान् के देवत्व की जैसी ही वजनी लगती है। अत. जब वे ईसा में बुद्ध-जैसी ही दैवी ज्योति को स्वीकार करने को सहमत होते हुए भी यह देखते है कि ईसाई लोगों में वैसे ही प्रतिदान की भावना का अभाव है तो वे इसे ईसाइयो की धार्मिक असहिष्णुता मानते है। वस्तुतः पूर्व में ईसाई धर्म को सबसे अधिक उत्पीडनकारी धर्म माना जाता है। उनका कहना है कि एशिया के प्रचार-भावनारहित धर्मों की तो बात ही क्या इस्लाम ने भी धार्मिक आधार पर उत्पीड़न ईसाई धर्म-जैसा नही किया है। इतिहासकारों को इस धारणा की उपेक्षा नही करनी चाहिए। एशिया के कुछ शासकों ने यूरोप के हेनरी अष्टम या चार्ल्स पंचम की भाँति राजनीतिक आधार पर उत्पीड़न होने दिया है किन्तु हेनरी अष्टम की पुत्री और उसके पति, चार्ल्स पचम के पुत्र की भाँति लोगों के धार्मिक उन्नयन के नाम पर उनके उत्पीडन को प्रोत्साहित करने वाला शासक एशिया में कोई नही हुआ।

एक और विषय है जिसके सम्बन्ध में पश्चिम की पुस्तकें, विशेषत. अंग्रेजी की इतिहास पुस्तकें पूर्व के धर्मों के प्रति न्याय नही करती। यह विषय है 'बुत' (प्रतिमा) परस्ती का। इस सम्बन्ध में वास्तविक दोष हमारी भाषा की शब्दावली का है। 'आयडल (बुत) शब्द, जो 'स्टेच्यू' शब्द का लगभग पर्याय ही है, ईसाइयों और यहूदियों की दृष्टि में पूजा के प्रसंग में गुनाह की भावना की झलक लिये हुए है। पश्चिम के लोग 'स्टेच्यू' (मूर्ति) में गुनाह की कोई भावना नहीं देखते। परन्तु पूर्व का शायद ही कोई शिक्षित व्यक्ति यह स्वीकार करेगा कि लकड़ी या पत्थर की प्रतिमा के सामने अपना मत्था टेकते समय वे उसकी पूजा करते हैं। पश्चिम के कैथलिक लोगों के समान ही पूर्व के लोगों में भी मूर्ति या प्रतिमा के प्रति पूजा का

भाव केवल नितान्त अज्ञ लोग ही रखते हैं और इसका कारण उनका अज्ञान ही होता है । विज्ञ यूरोपियनो के समान ही एशिया के ज्ञानी लोग भी किसी प्रतिमा या देवस्थान के सामने मत्था टेकते समय उस वस्तुतः उस मूर्ति के प्रति नहीं अपितु उसमें प्रतिष्ठित 'दैवी ज्योति' के प्रति अपनी आराधना निवेदित करते हैं । फिर भी प्रोटेस्टेन्ट धर्मप्रधान यूरोप में देवस्तुतियों की परम्परा का मिटना कठिन है और सौ वर्ष या इससे भी अधिक समय से इस परम्परा के आधार पर जो भ्रान्तियाँ हमारे भीतर व्याप्त हो गयी है वे अब भी अमिट है तथा उनका प्रभाव हमारी इतिहास पुस्तको में परिलक्षित होता है ।

परन्तु पूर्व के धर्मों का पश्चिमी इतिहासकारो तथा अन्य लोगो द्वारा गलत चित्रण केवल सन्त परम्पराओ तथा पूजा-पद्धति के वर्णन तक ही सीमित नहीं है । पूर्व के धार्मिक सिद्धान्तो के विवरण और समीक्षा के कार्य मे भी उनका रुख उतना ही गलत तथा पूर्वाग्रहयुक्त है । और ऐसा करने के लिए तो कोई उचित कारण भी नही है, क्योकि पूर्व के धार्मिक ग्रन्थ हमे पढने के लिए उपलब्ध है ही । परन्तु उन्हें पढ़ने की हममें इच्छा और रुचि भी तो होनी चाहिए । हम पश्चिम के लोग यह जानते है कि नैतिकता का मूल सिद्धान्त यही है कि अपने पडोसी के प्रति हम वैसा ही स्नेह करें जैसा कि स्वय अपने साथ करते हैं । यद्यपि हमारा आचरण इसके अनुरूप नही होता फिर भी सिद्धान्त के रूप में तो हम इसे स्वीकार ही करते हैं । हममें से बहुत-से अपनी अल्पज्ञता के कारण यह समझते हैं कि यह नैतिक सिद्धान्त ईसाई धर्म की ही देन है । हमें यह तो मालूम ही होना चाहिए कि 'न्यू-टेस्टामेण्ट' मे यह सिद्धान्त 'ओल्ड टेस्टामेण्ट' से लिया गया है और इसलिए यह यहूदियों की देन है । परन्तु वस्तुत. यह केवल यहूदी धर्म तक ही सीमित नही है । जिस समय में यह श्रेष्ठ सिद्धान्त 'लेवीटिकस' (यहूदी धर्म पुस्तक) में प्रतिपादित किया गया प्रायः उसी काल मे इसका उल्लेख और विवेचन अन्य बड़े धर्मों के ग्रन्थों में भी हुआ । लगभग ५०० ई० पू० में 'लेवीटिकस' में कहा गया 'तू अपने समान ही अपने पड़ोसी को भी प्यार कर ।' उसी काल मे कनफूशियस ने कहा 'जो व्यवहार तुम अपने प्रति नही चाहते उसे दूसरे के साथ कभी मत करो ।' और इस सिद्धान्त का चीनी भाषा में अंकन कनफूशियस के अनुयायी अपने एक ही लिपि चिह्न द्वारा करते हैं । इसी प्रकार बौद्ध धर्म ग्रन्थो में कहा गया है 'मनुष्य को क्रोध पर प्रेम

से और असाधुता पर साधुता से विजय प्राप्त करनी चाहिए ।' और हिन्दुओं का सिद्धान्त तो यह है कि 'वैष्णव जन तो तेणे कहिए जे पीर पराई जाणे रे' अर्थात् विष्णु का सच्चा भक्त वही है जो दूसरों के कष्टों का अनुभव स्वयं अपने कष्टों-जैसा करे । इसके कुछ समय बाद सात्रेटीज या प्लेटो ने यह सिद्धान्त पश्चिम में फैलाया और कहा : 'हमें बुराई का बदला बुराई से कदापि नही देना चाहिए और परिणाम चाहे जो भी हो हमें किसी के साथ भी बदी नही करनी चाहिए ।' इसके लगभग एक हजार वर्ष बाद इसी सिद्धान्त ने कुरान में इस रूप में स्थान पाया : 'अच्छाई के द्वारा बुराई को भगा दो ।' ताओ धर्म की प्रधान पुस्तक 'ताओ ते चिग' में भी किसी न किसी समय इस सिद्धान्त का प्रवेश इन शब्दो मे हुआ · 'घृणा का बदला परोपकार से दो. . .सज्जनता सबसे बड़ी शक्ति है. . सन्त अपने को सबसे नीचे रखकर ही सबसे ऊपर पहुँचता है ।' और जैसा कि अब पश्चिमी संसार स्वीकार करने लगा है, ताओ मत का प्रभाव चीनी लोगो के जीवन दर्शन पर कनफूशियन मत से भी कही अधिक रहा है । कनफूशियन मत मे किसी ईश्वर या देवता की सत्ता नही स्वीकार की गयी है और इसलिए उसे धर्म की सज्ञा नही दी जा सकती। वह तो ज्ञानियो की आचरण-सहिता रहा है । चीन का सामान्य जन इस आचरण-सहिता की नफासत को अपने जीवन मे अपना नही सका और उसे ताओ मत के अनुरूप व्यवहार करना सरल मालूम पडा अर्थात् 'मार्ग, सत्य और जीवन ।' चीनी इतिहास के विशेषज्ञ हमें बतलाते है कि इस प्रकार का ऐतिहासिक परिवर्तन पश्चिम मे होना बहुत आवश्यक है ।

कई शताब्दियो से पश्चिमी ससार पूर्व को (समस्त पूर्वी दुनिया को) धार्मिक रहस्यवाद की एक ऐसी गाँठ मानता आया है जिसे सुलझाना और समझना पश्चिम के बश के एकदम बाहर है । हम रहस्यपूर्ण पूर्व और व्यावहारिक पश्चिम को एक दूसरे का एकदम विरोधी मानते रहे हैं । टायनबी की तरह हम इस विश्वास को सँजोते हुए निश्चिन्त रहे हैं कि 'जिस प्रकार मशीनो (विज्ञान) के प्रति अभि-रुचि पश्चिमी सभ्यता की विशेषता रही है और सौन्दर्य के प्रति अभिरुचि ग्रीक सभ्यता की विशेषता रही है उसी प्रकार भारतीय और हिन्दू सभ्यता की विशेषता धार्मिक अभिरुचि रही है ।' बहुत-से पश्चिमी इतिहासकार (वे भी जो टायनबी के मतों में घोर अविश्वास प्रकट करते हैं) इस फतवे को स्वीकार करेंगे । वस्तुतः

यह सही नही है । हमारे पेशेवर इतिहासकार जहाँ पूर्व के लोगों को संसारी मामलो में अव्यावहारिक मानने की बात बराबर दुहराते रहते है दूसरी ओर एक विशिष्ट बायोकेमिस्ट ने जो रायल सोसाइटी के सदस्य हैं इस सम्बन्ध के तथ्यों की वास्तविक छानबीन की है । नीडहैम[1] का कहना है कि 'पूर्व और पश्चिम के सम्बन्ध में इस प्रकार के सभी मूल्यांकन ठोस आधार पर आधारित नही हैं ।' इन्होने चीन की सभ्यता में मशीनी (वैज्ञानिक) अभिरुचि को सात ग्रन्थो में सविस्तार प्रतिपादित किया है ।

चीन के विज्ञान और सम्पूर्ण पूर्व के विज्ञान के इतिहास के सम्बन्ध में हमारी भ्रान्त धारणाओं का कारण यही है कि हम उनके विचारो की वैज्ञानिकता को समझने मे असमर्थ रहे हैं । साक्रेटीज़ और उनके पहले के दार्शनिको से लेकर डेस्कार्टीज तक ने पश्चिम के लोगों की बुद्धि तर्कशास्त्र और वह भी शृंखलाबद्ध अथवा न्यायसगत तर्कशास्त्र के खूंटे से बाँध दी है । परन्तु पूर्व की अपनी विचार-धारा में इस प्रकार के तर्कशास्त्र तथा विषय के शृंखलाबद्ध प्रतिपादन का सर्वथा अभाव है । यह सही है कि दो सौ वर्षों के ब्रिटिश प्रभाव में आकर भारतीयो ने गणित पद्धति (कार्टेशियन) से विचार करने की परिपाटी अपनायी है, किन्तु उनके लिए विचार और चिन्तन का यह ढंग विदेशी प्रभाव के रूप में ही है । एक विशिष्ट भारतीय इतिहासकार का कथन है कि 'चीनी लोग गणितपरक (कार्टे-शियन) तर्कशास्त्र के प्रभाव से अछूते ही रहे हैं. . चीन में कोई तर्कशास्त्री खोजने से भी नही मिलेगा और प्राचीन काल मे चीनी विचारधारा तरल, काव्यात्मक और अन्त प्रेरणात्मक ही रही है।' कनफूशियन साहित्य के सम्बन्ध में यह बात पूरी तरह चाहे सही न हो परन्तु चीन का ताओवादी साहित्य तो निश्चय ही 'तरल अथवा प्रवाहपूर्ण, काव्यात्मक और अन्त प्रेरणात्मक' रहा है । यही बात भारतीय साहित्य के समस्त प्राचीन ग्रन्थो के सम्बन्ध में सही है । पूर्व के अधिकाश भागो के चिन्तन के सम्पूर्ण इतिहास में हमे न्याय बुद्धि की अपेक्षा अन्त:प्रेरणा का भाव ही दिखाई देता है । पश्चिम के समान वहाँ की विचारधारा क्रमागत रूप से

१. चीन में विज्ञान और सभ्यता, भाग १, पृ० २४१

अग्रसर नहीं होती अपितु कूदती हुई आगे बढ़ती है और बहुधा सही स्थान पर ही पहुँचती है। या यह कहें (ऊपर दिया रूपक बहुत सही नही बैठेगा) कि पूर्व का चिन्तन-क्रम विचारों की विभिन्न हलकी लहरों के रूप में धीरे-धीरे अग्रसरित होता है और किसी स्पष्ट प्रयास के बिना ही वह पूर्ण धारा के रूप में प्रकट हो जाता है। पश्चिमी दार्शनिकों को यह ढंग अशुद्ध और विश्रृंखलित लगता है। परन्तु पूर्व के लोग इसका बहुत सीधा और सरल उत्तर इस प्रकार देते हैं कि जीवन और आचरण भी तो पूर्णतया शुद्ध और एकदम शृंखलित नही होते और इसलिए पूर्व की विचार-पद्धति जीवन के अधिक निकट तथा उसके प्रति अधिक सच्ची है न कि पश्चिम की नियन्त्रित एवं बनावटी नियमो से जकड़ी हुई विचार-पद्धति।

पूर्व के लोगो की विचार और चिन्तन-पद्धति के सम्बन्ध में अपने अज्ञान के कारण पश्चिमी ससार ने सदा ही उनके आचरण, और बीते हुए समय के उनके जीवन जिसे हम इतिहास की संज्ञा देते है, के सम्बन्ध में गलत दृष्टिकोण से विचार किया है। और हमारा यह अज्ञान न केवल स्वयं उनके अपने प्रश्नों से सम्बन्धित आचरण के बारे में ही हमे प्रभावित करता है अपितु विज्ञान तथा तकनीकी मामलो के बारे में भी जिनके विषय में हम अपनी श्रेष्ठता का पूरा विश्वास रखते रहे हैं। परन्तु अपनी श्रेष्ठता सम्बन्धी हमारा यह आत्मविश्वास भी एकदम गलत रहा है। हमे इस बात का पता ही नही है कि हमारे यहाँ की औद्योगिक क्रान्ति के समय के पूर्व में सम्पूर्ण इतिहास-काल में विज्ञान और तकनीकी विषयों में भी पूर्व पश्चिम से आगे बढा हुआ रहा है। हमें इसकी जानकारी तो रही है कि मध्यकाल में अरब लोग फलित एव गणित ज्योतिष में प्रवीण थे और कभी-कभी शुद्ध गणित के क्षेत्र मे भी उन्होंने विशेष योगदान किया, जैसे अरबी अक और शून्य लगाकर किसी अंक का मान दसगुना बढ़ा देने का सिद्धान्त। परन्तु इन विषयो में हमारी धारणाएँ बदल रही है क्योंकि अब हमे पता चल रहा है कि इस प्रकार का अधिकाश ज्ञान (अरबी अक भी) मूलतः अरबी न होकर वस्तुतः भारत या चीन से प्राप्त हुआ है। जहाँ तक भारत का प्रश्न है हमारे सामने ऐसे प्रमाण ही नही हैं जिनके आधार पर इस प्रकार के ज्ञान का श्रेय भारत को दिया जा सके। भारतवासी अपने अन्य विषयों के इतिहास के समान ही विज्ञान सम्बन्धी अपने इतिहास के

बारे में भी एकदम उदासीन रहे हैं। परन्तु शोध और खोज के नये उपायो के आधार पर भारत के सम्बन्ध में भी अब हमें नयी बातें मालूम हो रही हैं और हमारा अज्ञान मिट रहा है। विशेषज्ञों के अनुसार भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में भारत प्राचीन संसार का अग्रणी रहा। ईसा से ४०० वर्ष पहले भारत ने ही सबसे पहला और वैज्ञानिक ढंग का व्याकरण प्रस्तुत किया। सम्पूर्ण मध्ययुग में भारत का कला-कौशल और धातुओं की ढलाई का काम पश्चिमी संसार की अपेक्षा कहीं अधिक उन्नत था। सच तो यह है कि मध्ययुग के भी पहले न केवल धातु-विज्ञान के सम्बन्ध में बल्कि खनिज विज्ञान, इंजीनियरी, औषधि और रसायन के बारे में भी भारत में व्यापक और नियमित रूप से प्रगति हो रही थी।

हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमान लोग अपने इतिहास के सम्बन्ध में कम उदासीन रहे हैं और अपनी प्राचीन कीर्ति के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत मुखर रहे हैं। यही कारण है कि मध्यकाल मे विज्ञान के क्षेत्र में भारतीयो की अपेक्षा अरब लोगों की प्रगति के सम्बन्ध में हमें कही अधिक जानकारी है। चौदहवी शताब्दी मे ही विश्व की सर्वश्रेष्ठ वेधशाला माराग़ाह मे स्थापित थी। बारहवी शताब्दी के प्रारम्भ में ही मुसलमान वैज्ञानिक पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति का विवेचन कर रहे थे और हारवे से चार सौ वर्ष पहले ही उन्हे शरीर मे रक्त के सचार की बात मालूम थी। चासर के समय में ही वे आँख के मोतियाबिन्द का आपरेशन करना जानते थे। दैनिक जीवन के क्षेत्र मे वे यूरोप से एक हजार वर्ष आगे थे और वे बैलों की गर्दन पर जुआ तथा सीनाबन्द काठियो का इस्तेमाल करना जानते थे जिससे खेती के काम में उनका उपयोग गला घोटने वाले कष्ट के बिना ही किया जा सकता था। इस प्रकार के विस्तार की बाते पश्चिम के लोगों को मालूम ही नही है और इसका कारण यही है कि पूर्व में इतिहास-लेखन का जो भी थोडा काम हुआ है उसमें इस कोटि की सामान्य बातो की उपेक्षा ही की गयी है। दूसरे, इस प्रकार की तकनीकी प्रगति के सम्बन्ध में एशिया के विभिन्न देश अपनी-अपनी श्रेष्ठता के विरोधी दावे प्रस्तुत करते हैं। पश्चिम जिन प्रमाणों को विश्वसनीय मानता है वैसे पर्याप्त प्रमाण हमारे सामने उपलब्ध ही नहीं है जिनके आधार पर यह तय किया जा सके कि किसी क्षेत्र में एशिया का कौन-सा देश वस्तुतः अग्रणी रहा है। फिर भी समष्टि रूप में इन विभिन्न दावो के आधार पर नीढहैम का यह

कथन सिद्ध ही होता है कि विज्ञान और तकनीकी मामलो में 'अतिप्राचीन काल से सोलहवीं शताब्दी तक एशिया यूरोप से कही आगे बढा हुआ था ।'

यह बात मध्यपूर्व और भारत के सम्बन्ध में कहाँ तक सही है यह तो तभी मालूम हो सकेगा जब कोई अपना सम्पूर्ण जीवन इस विषय के शोध-कार्य में लगा दे । परन्तु एक व्यक्ति ने अपना सम्पूर्ण जीवन शोध-कार्य मे खपाकर यह प्रमाणित कर दिया है कि चीन के सम्बन्ध में यह बात एकदम ठीक है । चीनी विज्ञान और सभ्यता का महान् इतिहास ग्रन्थ लिखकर नीडहैम ने अपना सिक्का जमा लिया है और उसके आधे खण्डों के प्रकाशित होने के पूर्व ही यह स्वीकार कर लिया गया कि चीन के इतिहास के सम्बन्ध मे अग्रेजी भाषा की यह सबसे विशिष्ट और क्रान्ति पैदा करनेवाली रचना है । इसके आधार पर पश्चिम में चीन के अध्ययन का स्वरूप ही एकदम बदल गया है—यद्यपि फ्रास में ग्राउसेट-जैसे विद्वानो की रचनाएँ इस विषय पर पहले से ही मौजूद होने के कारण नीडहैम के ग्रन्थ से फ्रेंच लोग अग्रेजो-जैसे आश्चर्यचकित नही हुए है । इसमे सिद्ध किया गया है कि चीन में विज्ञान और सभ्यता दर्शन, नीतिशास्त्र और धर्म के साथ अविच्छिन्न रूप से घुली-मिली रही है । इतने पर भी ध्यान मूलत तकनीकी उपलब्धियो पर ही केन्द्रित रहा है । चीन के इतिहास की शोभा उसके पगोडा की शृंखलाओं या कोरे सिद्धान्तो के किताबी ज्ञान के आधार पर राजनीति के संचालन मे निहित न होकर बहुमुखी तकनीकी प्रगति मे परिलक्षित होती है । तीन-चार हजार पृष्ठो के महान् ग्रन्थ मे विज्ञान और तकनीकी प्रगति के सप्रमाण विवरण भरे पड़े हैं और उसमें से कुछ चुने उदाहरण प्रस्तुत करना बहुत ही कठिन काम है । यदि सभ्यता का अर्थ है जीवन मे सुख और सुविधा प्रदान करना तो चीनी जीवन में ईसा से सैकडों वर्ष पहले वर्षा से बचाव के लिए मोमिया कपडे के लबादे मौजूद थे और लगभग १००० ईसवी मे वहाँ ऐश व आराम से यात्रा करने के विषय पर कम-से-कम एक पुस्तक तो अवश्य उपलब्ध थी । 'यात्रा के समय अपना बरसाती कोट, दवाओ का बक्स, कई जोड़े अतिरिक्त कपडे, पकवानों का कटोरदान, चाय, कागज, स्याही, कैंची, तुकान्त शब्दों का कोश और संगीत का बाजा (सारंगी), शतरंजी तथा शतरंज के मोहरे और मार्ग में खरीदी पुस्तको को रखने के लिए एक खाली बक्स ले जाना मत भूलो ।' यदि सभ्यता का अर्थ है मशीनी उपकरणों का प्रयोग तो चीन में घडी

की मशीन मौजूद थी (चेन से चलने वाली घड़ी का यह सर्वप्रथम उल्लेख इतिहास में मिलता है)। दसवी सदी तक इस घड़ी में गतिचक्र के सन्तुलन का पूर्ण विकास किया जा चुका था और पहली शताब्दी तक उसमें 'स्लाइड-कैलिपर' की सुविधा प्रस्तुत हो चुकी थी। मशीनो मे 'V' के आकार के दाँतुओं से युक्त छोटे-बड़े चक्को ('गियर') की व्यवस्था उन्होंने आज से २००० वर्ष पहले ही कर ली थी। लोहे की जंजीरों से झूलेदार पुल बनाना उन्हें आठवी शताब्दी में ही मालूम था जब कि यूरोप यह व्यवस्था अठारहवी शताब्दी में सीख पाया। यूरोप की औद्योगिक क्रान्ति के ५००० वर्ष पहले ही चीन ने पानी की शक्ति से चलने वाली कताई की मशीन की ईजाद कर ली थी। घडी के समान स्वचालित दूरबीन की जानकारी यूरोप को तो उन्नीसवी शताब्दी में हुई किन्तु चीन कों इसका ज्ञान इससे ७०० वर्ष पहले ही था। वे 'ऐसे समाज के लोग थे जो अति प्राचीन काल से काँसे-पीतल की ढलाई मे परम प्रवीण थे और जिन्हें लोहे के ढालने का काम यूरोप से १३०० वर्ष पहले ही मालूम था।' रोगो के उपचार के क्षेत्र में उन्हे मरीज का शरीर दवा देकर पीड़ा-चेतना रहित करने की तरकीब ३०० ई० (जे० वाई० सिपसन की ईजाद के १६०० वर्ष पूर्व) में ही ज्ञात थी और चेचक का टीका लगाने की विधि १६०० ई० मे (लेडी मेरी वोर्टले मान्टेग्यू से १५० वर्ष पहले)। चोरो की डाक्टरी जाँच के आधार पर उनके सम्बन्ध में न्याय-दण्ड व्यवस्था का चलन वहाँ तेरहवी शताब्दी में ही था और इस क्षेत्र में 'सुगजू का नाम न केवल चीन के अपितु सम्पूर्ण ससार के इतिहास में अग्रणी है।'

खेती-किसानी के इतिहास के क्षेत्र में भी चीनियो ने जो विशेषज्ञताएँ प्राप्त कीं उनमें से कुछ यूरोप की कृषि-क्रान्ति का अध्ययन करने वालो को आश्चर्यचकित कर देगी। उन्होने टूल से चौदह सौ वर्ष पहले ही तीसरी ईसवी शताब्दी में नली द्वारा कतारो में बीज बोने की प्रणाली अपना ली थी और वे फसलों को कीड़ो से रक्षा करने के विज्ञान को भी जानते थे जिसे यूरोप ने उन्नीसवी शताब्दी से पहले नहीं सीखा। और ढुलाई की पहियेदार उन गाडियो का प्रयोग चीन में आम तौर से तीसरी शताब्दी में ही प्रचलित था जिसके सत्रहवीं शताब्दी में यूरोप मे इस्तेमाल किये जाने से बागवानी और खेती-बारी के क्षेत्र में बहुत बड़ी क्रान्ति माना गया।

गणित और शुद्ध विज्ञान के क्षेत्र में भी स्थिति इसी प्रकार की है। कुछ बातें

तो ऐसी हैं (जैसे शून्य के प्रयोग की ईजाद) जिनके मौलिक आविष्कार के सम्बन्ध में चीन के साथ ही भारत तथा अन्य पूर्वीय प्रदेश भी दावेदार है। परन्तु दशमलव प्रणाली चीन ने ईसा से ३०० वर्ष पहले ही और इसके कुछ समय बाद ऋण मूल्यों का महत्त्व भी खोज निकाला था। प्रकाश विज्ञान के क्षेत्र में वे अरस्तू के ग्रीक समकालीन लोगों से श्रेष्ठ थे। कहा यह जाता है कि जो प्रगति ग्रीक लोगो ने रेखागणित के क्षेत्र में प्राप्त की वैसी ही चीनियों को बीजगणित के क्षेत्र मे उपलब्ध थी। उन्होंने बहुत पहले ही 'प्रकृति में जीव सिद्धान्त का प्रतिपादन कर दिया था जिससे मिलता-जुलता सिद्धान्त आधुनिक विज्ञान को तीन शताब्दियो के मशीनी भौतिकवाद के परिणामस्वरूप स्वीकार करना पडा है।'

यूरोप में लगभग एक शताब्दी या इससे कुछ अधिक समय पहले तक विज्ञान को 'प्रकृति दर्शन' माना जाता था, परन्तु चीन तथा इसी प्रकार अधिकांश पूर्वी देशों मे तो विज्ञान को सदैव ही प्रकृति विषयक चिन्तन के रूप में स्वीकार किया गया। वहाँ विज्ञान का अध्ययन कभी भी धर्म तथा अन्य क्षेत्रों के चिन्तन से पृथक् विषय के रूप में नहीं किया गया। उदाहरणार्थ यह कहा गया है कि कान्ट का 'कैटेगारिकल इम्परेटिव' सिद्धान्त इससे तीन सौ वर्ष पहले ही वांग-यंग-मिग प्रतिपादित कर चुके थे और कान्ट के दूसरे सिद्धान्त 'समय और स्थल की सापेक्षता' को उनसे छ: सौ वर्ष पहले ही लू सिग शान ने प्रतिपादित किया था। और दर्शन के क्षेत्र में अपनी 'आधुनिकता' के प्रमाणस्वरूप चीनी दार्शनिकों ने 'रिफार्मेशन' काल में ही, जब कि यूरोप में पाप के उन्मूलन का दण्ड लट्ठे पर टाँग कर जिन्दा जला देना था, पाप को एक प्रकार का रोग माना था।

अधिकाश अंग्रेजो को इस प्रकार का इतिहास इस विषय की अपनी धारणाओं से बहुत ही भिन्न और विचित्र लगेगा। आज भी, जब कि बकल के जमाने को सौ से भी अधिक वर्ष बीत चुके है और ग्रीन के भी साठ से अधिक वर्ष बाद, अधिकांश अग्रेज इतिहासकार इतिहास का क्षेत्र केवल अतीत काल की राजनीति तक ही सीमित मानते हैं। परन्तु इतिहास का यह स्वरूप सुदूरपूर्व के सम्बन्ध में कभी भी सही नहीं बैठेगा क्योंकि वहाँ तो राजनीति की भावना बहुत ही भिन्न रही है। औसत चीनी व्यक्ति के लिए, सभी युगों में, राजनीति का अर्थ रहा है किसी सम्राट् की सत्ता की धुंधली याद, उसके लगान वसूल करने वाले अधिकारियों को सन्तुष्ट

रखने की आवश्यकता और एक फसल से लेकर दस वर्ष तक की अवधि में सम्राट् के युद्ध नायकों तथा उनकी टोलियों का खेतों की फसलो को जला डालने के लिए धावा बोल देना। यदि चीन का राजनीतिक इतिहास लिखा भी जा सके तो उसका स्वरूप उससे बहुत भिन्न होगा जिसे हम राजनीति कहते और उससे तो और भी भिन्न जिसे हम कभी राजनीतिक अर्थशास्त्र कहते थे। पिछले दो सौ वर्षों में हम इस बात के लिए प्रयत्नशील रहे हैं कि हमारे इतिहास के स्वरूप मे राजनीति की अपेक्षा सामाजिक चित्रण का पुट अधिक हो, परन्तु चीन में तो इतिहास का रूप सामाजिक जीवन का ही चित्रण रहा है। वहाँ, शासन की प्रगति का अर्थ यूरोप के समान मताधिकार की प्राप्ति, उसका उपयोग और उसमें भ्रष्टाचार की गाथा नही रहा है। वहाँ इसका रूप कही अधिक आधुनिक बातो का विवरण रहा है जैसे पहली ईसवी शताब्दी में भूमि का राष्ट्रीयकरण, चौदहवी शताब्दी में बुढ़ापे की पेंशन की व्यवस्था और सत्रहवी शताब्दी में वाग चुआन शान की जीवन गाथा जिन्हे 'मार्क्स और इजील्स का अग्रणी' कहा गया है।

अतः जो लोग चीन में कम्यूनिज्म के विकास से भयभीत है या जो उसके इच्छुक हैं उन सभी को माओत्से तुग के भाषणो को न पढकर वहाँ के सामाजिक इतिहास का अध्ययन करना चाहिए। बात केवल इतनी ही नही है कि सत्रहवी शताब्दी में वांग चुआन शान ने चीन में कम्यूनिज्म के एक स्वरूप का प्रचार किया। चीन में अति प्रारम्भिक काल से, मध्ययुगीन यूरोप से भी अधिक, वहाँ के सामान्य खेतो में स्वाभाविक कम्यूनिज्म की भावना व्याप्त थी। वहाँ की यह सामान्य भूमि व्यवस्था, यूरोप के सामान्य खेतो की तरह, कुछ अंशो मे सामन्ती और कुछ अशो में साधारणजन के अधिकारवाली थी। और चीन के पारिवारिक जीवन में तो आधारभूत कम्यूनिस्ट सिद्धान्त व्याप्त है ही। 'चीनी विचारो और सिद्धान्तो में ऐसे बहुत-से परम्परागत तत्त्व हैं जिनकी चूल बड़ी आसानी से मार्क्संसवाद से बैठायी जा सकती है। उदाहरणार्थ चीनी परिवार की स्थिति और उसका संगठन। चीन के परिवार के संगठन का आधार जातीय कर्मों की एकता की भावना है और यह परम्परा कम्यूनिज्म की आवश्यकताओ से मेल खाती हुई है, उसके प्रतिकूल नहीं। इस प्रकार की एकता की भावना के आधार पर सामूहिक प्रयत्नो और महान् सार्वजनिक कार्यों का वहाँ की स्थानीय समाज सेवा की परम्पराओ

से ताल-मेल बैठ जाता है।' पश्चिमी पाठ्य पुस्तकों में पूर्व सम्बन्धी विषयों के प्रतिपादन पर एक भारतीय और एक फ्रेंच आलोचक की रिपोर्ट से यह उद्धरण दिया गया है। प्राचीनतम इतिहास को खोजने से पता चलता है कि चीनी परिवार का संगठन किसी पुरुष तथा उसकी स्त्री और बच्चों तक ही सीमित नहीं था। वह एक ऐसी विशाल गृहस्थी होती थी जिसमें एक ही मकान में कई पीढ़ियो के भाई-भतीजे उनकी स्त्रियाँ और बच्चे रहा करते थे और यह ऐसी गृहस्थी थी जिसमें युवको के विवाह हो जाने पर स्थान की कमी नये कमरे बनाकर दूर की जाती थी। पश्चिम के समान यह नही होता था कि परिवार के युवक विवाह करने पर अपना-अपना घर अलग बसाकर गृहस्थी के टुकड़े कर डाले। यही जीवन तो सच्चा कम्यूनिज्म था न कि मार्क्स और इंजील्स या वाग चु आन शान का नकली कम्यूनिज्म। रूसी लोग अपने ढग का कम्यूनिज्म चीन पर थोपने मे सफल हों या नही किन्तु चीनी ढंग के कम्यूनिज्म के प्रसार के लिए वहाँ पहले ही से अनुकूल परिस्थिति मौजूद है। पश्चिमी ससार को भविष्य में चिन्ता इस बात की नही होगी कि चीन पर कम्यूनिज्म का रंग चढ गया है अपितु इस बात की कि स्वय कम्यूनिज्म चीनी रग मे रँग गया है।

अत. पूर्व के लोगो की विचार-प्रक्रिया और उसे संयोजित करने वाली सामाजिक परिस्थितियों एवं प्रसगों को ठीक तरह से समझने के लिए राजनीतिक चेतना वाले पश्चिम के लोगो को राजनीति के क्षेत्र में भी अपनी ऐतिहासिक मान्यताओ और पूर्वाग्रहो से ऊपर उठना होगा। यह बात केवल सामाजिक और राजनीतिक इतिहास के क्षेत्रो में ही लागू नही होती। पूर्व की संस्कृति के विविध स्वरूप भी हम पश्चिमी लोगो की समझ में तब तक नही आ सकते जब तक हम अपने विचार-बन्धनों से मुक्त होकर सोचने का पूरी तरह से प्रयत्न न करें। भारतीय मूर्ति-कला हमें अनावश्यक रूप से विस्तारपूर्ण दिखाई देती है परन्तु विस्तार में जाने की उसकी विशेषता यूरोप की गोथिक कला-जैसी ही भावव्यंजक तथा सच्ची है। चीनी चित्रकला हमें बहुत स्थूल एवं रेखापूर्ण दिखाई देती है और वास्तव में वह ऐसी है भी। परन्तु ऐसी होते हुए भी वह प्रगाढ़ है। ऐसे कितने यूरोपीय चित्रकार हैं जो पाँच मिनट के भीतर प्रथम कोटि का चित्र तैयार कर दें? परन्तु चीनी चित्रकारों ने ऐसा ही किया है। कारण यह कि उनका उद्देश्य किसी आकस्मिक

भाव को चित्रबद्ध करना होता है न कि रैफेल के पहले के समय के चित्रकारों के समान चित्रों में विस्तार की बारीकियों को भरना। जो भाव उनके ध्यान में आया उसे वे अपने चित्र में कुछ ही क्षणों में अंकित कर देते हैं और उनका चित्र सदा ही बढ़िया होता है, बहुत अच्छा और कभी कभी तो अति श्रेष्ठ।

पूर्व के इतिहास में राजनीति के विषयों की अपेक्षा इस प्रकार की बातो का महत्त्व कही अधिक है। पूर्व के प्राचीन काल की गाथा में राजनीति की कोई पूछ ही नही है यहाँ तक कि सैनिक विजयो सम्बन्धी राजनीति भी महत्त्वहीन है। युद्ध संचालन और राज्यो के शासन की अपेक्षा कही अधिक महत्त्व की बाते पश्चिम को पूर्वी ससार के इतिहास से सीखनी है। इन विषयों के सम्बन्ध में तो हम स्वय अधिक श्रेष्ठ रहे हैं।

परन्तु कुछ विषय ऐसे अवश्य हैं जिनमें हम लोग अधिक प्रवीण नही रहे हैं, यद्यपि हम समझते यही रहे हैं कि उनके सम्बन्ध मे भी हमारी श्रेष्ठता रही है। यदि सभ्यता (सिविलिजेशन) का वास्तविक अर्थ लिया जाय तो उसके अनुसार चीनी लोग रोमन साम्राज्य के पतन और औद्योगिक क्रान्ति के प्रारम्भ के बीच वाले डेढ़ हजार वर्षों की अवधि मे यूरोप की अपेक्षा कही अधिक सभ्य थे। इस सम्पूर्ण अवधि में चीन के नगर यूरोप के नगरो की अपेक्षा कहीं अधिक बड़े और उच्च कोटि के थे। और सभ्यता की परिभाषा के अन्तर्गत आने वाले सभी विषयो के सम्बन्ध में चीन के लोग पश्चिमी ससार से अधिक श्रेष्ठ एवं उन्नत थे। उदाहरण के लिए सातवी शताब्दी में ही वहाँ यह नियम था कि प्रत्येक नगर मे एक डाक्टर जनस्वास्थ्य अधिकारी के रूप मे हो। चीनी साम्राज्य के यातायात के साधन मध्यकाल के समुन्नत व्यापार की आवश्यकताओं के अनुरूप थे जब कि रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत यातायात साधनों की स्थिति ऐसी नही थी। चीन की व्यापारिक मण्डियों मे यूरोप की मण्डियो की अपेक्षा कही अधिक लोग व्यापार के लिए एकत्र होते थे और उनमे बिकने वाली वस्तुएँ भी कही अधिक श्रेष्ठ कारीगरी की होती थी। फिर उन्हें सौन्दर्य की परख और अपने अवकाश के समय सुखपूर्वक बिताने की कला-जैसे सभ्यता के उपादानो का कही अच्छा ज्ञान था। उनकी चित्रकला और उनकी मिट्टी के बर्तनों की कारीगरी में सौन्दर्य भावना के साथ ही उनके बहुमूल्य होने की बात से यूरोपीय संग्रहकर्ता कई पीढियों से परिचित रहे हैं। चीन के संगीत के सम्बन्ध में हमें ग्रीक लोगो के संगीत से भी कम जानकारी है किन्तु

इस क्षेत्र में भी पुराने यूरोपीय इतिहासकारों ने उसका जितना मूल्यांकन किया है उससे वह कहीं अधिक है। हमें मालूम है कि ईसा से दो-तीन सौ वर्ष पहले ही चीन में वीणा के ढंग के बाजे का प्रचलन था और उसके संगीत के अभिलेख भी मौजूद हैं। कम-से-कम इतना तो ज्ञात ही है कि बैच के जन्म के सौ वर्ष पहले ही चीनियो के विविध वाद्यों से संगीत के स्वर और लय में तालमेल बैठाने की दक्षता मौजूद थी और इसके आरोह-अवरोह का सुव्यवस्थित क्रम था।

अब उनकी काव्य-कला लीजिए। उसे समझने मे दो बाधाएँ हैं, एक तो भाषा की और दूसरी उनके इतिहास विषयक हमारे अज्ञान की। हममें से अधिकाश लोग उसे अनुवाद के रूप मे ही पढ सकेंगे और यह अनुवाद भी गद्य में ही होगा जो मूल पद्य मे उतना ही घटिया होगा जितना कि हीब्रू भाषा के धार्मिक गीतों का साल्टर द्वारा किया गया गद्यानुवाद। परन्तु ऐसी महान् बाधाओं के होते हुए भी उस काव्य के सौन्दर्य की दीप्ति का आभास हमे स्पष्ट रूप से होगा। तांग और उससे कुछ कम अंशो में सुग काल के काव्य में प्राकृतिक सौन्दर्य के उल्लास तथा लय का जो अद्भुत सामजस्य है वैसा वर्ड्सवर्थ की रचनाओं मे खोजने पर भी नही मिलेगा। यह सही है कि चीनी सभ्यता के पतनोन्मुख होने के साथ ही उनका काव्य, स्वयं हमारी कविता के समान, अधिक अलकारिक और दुरूह तथा अस्पष्ट हो गया। परन्तु बहुत बड़ी मात्रा मे ऐसा चीनी काव्य और भारतीय काव्य भी मौजूद है जिसे अनुवाद रूप में भी पढ़कर मेकाले के झूठे दम्भ की मूर्खता हमारे सामने स्पष्ट हो जायगी। उन्होने भारतीय साहित्य को स्वय पढे बिना ही उसकी निन्दा करते हुए कह डाला कि उनके जमाने में अग्रेजी में जितना साहित्य प्रस्तुत था वह '२०० वर्ष पूर्व के ससार की समस्त भाषाओ में प्रस्तुत साहित्य के योग से भी कहीं अधिक मूल्यवान् था।'

जैसा कि स्वाभाविक ही था चीनी काव्य के साथ ही वहाँ अन्य प्रकार के साहित्य तथा उनके छोटे-मोटे ग्रन्थों की रचना हुई। भारतीयों ने तो अपना इतिहास नही लिखा किन्तु चीन में इतिहास-ग्रन्थ भी लिखे गये। इनमे एक समकालीन इतिहास ग्रन्थ है जिसमें, हमारे 'एंग्लो-सैक्सन क्रानिकल' की भाँति कई शताब्दियो के विवरण हैं और ये विवरण उतने ही विश्वसनीय हैं जितनी कि पश्चिम की अधिकाश समकालीन इतिहास-गाथा रचनाएँ। तांग काल के लेखकों ने ऐसे स्थानीय भौगो-

लिक विवरणों का संकलन किया है जो 'डूम्सडे बुक' के विवरणों से कहीं श्रेष्ठ हैं। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में वहाँ टायनबी-जैसे श्रेष्ठ इतिहास-लेखक भी हुए हैं जिनका नाम है लू चिया और जिन्होंने राज्यों के उत्थान और पतन पर महान् ग्रन्थ लिखा है। नवीं शताब्दी तक चीन में कागज और मुद्रणकला का प्रचलन तो हो ही गया था साथ ही उन्होने शार्टहैण्ड (सकेत लिपि) से मिलती-जुलती व्यवस्था भी चालू कर ली थी। सन्दर्भ ग्रन्थों के क्षेत्र में कई चीनी विश्वकोश उतने ही विशाल और विस्तारपूर्ण हैं जितना कि अंग्रेजी विश्वकोश 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका'। इनका प्रणयन नवी शताब्दी से ही होने लगा था। अठारहवी और उन्नीसवीं शताब्दियों में वहाँ के सबसे परिपूर्ण विश्वकोशों में १७०० अध्याय थे और इससे भी कहीं बडा एक विश्वकोश वहाँ पन्द्रहवी शताब्दी में ही बना था जिसका विस्तार ११००० अध्यायों तक था। इन विश्वकोशो की सामग्री का बहुत बड़ा अंश यूरोपीय आलोचकों को एकदम ऊटपटाँग दिखाई देता परन्तु इसी प्रकार यूरोप में पन्द्रहवी शताब्दी में प्रणीत साहित्य का काफी बडा भाग आज के चीनी विद्वान् को भी अनर्गल लगेगा।

'यह प्रत्यक्ष ही है कि जब कोई युग सभ्यता और वैभव के उत्कर्ष के पथ पर आगे बढ़ता है तो पहले विशाल भवनो का निर्माण होता है और उसके बाद बाग-बानी में प्रवीणता प्राप्त होती है।' यदि सभ्यता की प्रौढ़ अवस्था के विषय में बेकन का ऊपर अकित सिद्धान्त सही है तो इस कसौटी पर चीनी सभ्यता अत्यन्त खरी उतरती है। एशिया के घनी आबादी वाले नगरो में छोटे-छोटे बगीचो का सौन्दर्य तो है ही और इन नगरो को इतने से ही सन्तोष करना पडा है। परन्तु बाग-बगीचो की कला से केवल बेकन का आशय शायद लगभग ३५ एकड़-जैसे बड़े खण्डों को बागवानी की कला से सजाने का था। और इस आधार पर पिछली कई सदियो तक चीन की सम्पन्न जागीरो में बाग-बगीचों के दृश्य इतने 'उन्नत और रमणीय' रहे हैं कि उनके सामने इस क्षेत्र की लेनोत्रे की देन अत्यन्त साधारण लगती है तथा उनकी तुलना मे कैपेबिलिटी ब्राउन तो अधिक-से-अधिक सुघर खाई खोदने वाला और झाड़ी रोपने वाला ही कहा जायगा।

यह सब कुछ होते हुए भी आधुनिक पश्चिम के लोगो को पूर्व के वास्तविक इतिहास का अध्ययन उनका विशाल वैभव या उनके विचारों के गूढ़ रहस्यों की

खोज के लिए ही नहीं करना है । और वस्तुत: पूर्व के लोग अपने इतिहास के अध्ययन में हमारी रुचि इन कारणों के आधार पर चाहते भी नहीं हैं । वहाँ के अधिक उन्नत विचारक ऐसी स्थिति पर पहुँच गये हैं कि वे अपनी संस्कृति की आधारभूत बातों को महत्त्वहीन मानकर जापान की तरह स्वयं ही पश्चिम के रंग में अपने को रँग लेना चाहते हैं । पश्चिम के लोग पूर्व की संस्कृतियों से अनभिज्ञ रहे हैं तथा पश्चिम की संस्कृति की विशेषताएँ बन्दूकों और तोपों के बल पर पूर्व पर थोपी गयी हैं किन्तु अब यह नौबत आ गयी है कि पूर्व के लोग बन्दूक,तोप तथा पश्चिम के अन्य उपकरणों के उपयोग मे प्रवीणता प्राप्त करने को कटिबद्ध हैं । आज स्थिति यह है कि पूर्व के लोग पश्चिम वालो से अपना मूल्याकन पश्चिम के ही मानदण्डों के आधार पर चाहते है । अपने प्राचीन विचारकों और दार्शनिकों की अपेक्षा अपनी आधुनिक औद्योगिक प्रगति को वे अपने लिए अधिक गौरवपूर्ण मानते हैं । वे चाहते हैं कि पश्चिम के लोग उनकी दार्शनिकता की पुरानी गाथाओ पर अपना ध्यान केन्द्रित न करके उनकी पंचवर्षीय योजनाओ तथा अन्य बड़े मंसूबों सम्बन्धी प्रगति देखें और यह अनुभव करे कि जनतन्त्र तथा कम्यूनिज्म-जैसे पश्चिमी सिद्धान्तों को वे कितनी आसानी से न केवल अपना ही सकते है अपितु उन्हें अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप संशोधित-परिवर्धित भी कर सकते है ।

अत: पश्चिमी इतिहास लेखको को पूर्व को ठीक तरह से समझने की दिशा में अभी बहुत कुछ करना बाकी है । सबसे पहले तो हमें अपनी श्रेष्ठता की भावना के बन्धनों से अपने को मुक्त करना होगा और तब हमें पूर्व का, उसकी निजी विशेषताओं के आधार पर, मूल्याकन करना होगा, न कि इस आधार पर कि उसने पश्चिम के आघातों का कितना प्रतिरोध किया या उन्हें शिरोधार्य किया । और अन्त में जब हम पूर्व के प्राचीन एवं आधुनिक दर्शन और उसकी कथाओ को समझ लेंगे तो हमें शालीमार, 'स्वर्ग के मन्दिर', निर्वाण के सम्बन्ध में अपनी धारणाओं तथा कनफूशियस काल की शराफत के आदर्शों को भुलाकर विचार करना होगा । यही नहीं बल्कि भगवद्गीता और ताओतीचिंग-जैसे ग्रन्थों की ओर से अपना ध्यान हटा कर हमें पूर्व के ऐसे स्वरूप पर अपना ध्यान केन्द्रित करना होगा जो अपनी परम्परागत विशेषताओं को अपनाये रहने के साथ ही बड़ी तेजी से पश्चिमी बातों के सम्बन्ध में भी उससे आगे बढ़ रहा है ।

५

'काउंसिल आफ यूरोप' ने १९५३ से १९५८ की अवधि में 'इतिहास के शिक्षण में यूरोपीय भावना' विषय पर ६ बार अपने वार्षिक सम्मेलन किये। अब तक यह अनुभव किया गया कि हमारी इतिहास पुस्तकों में यूरोपीय भावना का नितान्त अभाव रहा है। इंग्लैण्ड के इतिहास पर हमारी पुस्तको का विषय इग्लैण्ड ही है, न कि एक के बाद दूसरे देश के इतिहास का विवरण। फ्रास के इतिहास ग्रन्थ फ्रांस के विषय पर ही हैं, विभिन्न विभागो के विकास के सम्बन्ध में नही। इसी प्रकार जर्मनी और संयुक्त राज्य अमेरिका सम्बन्धी इतिहास ग्रन्थों का विषय जर्मनी और अमेरिका ही है न कि वे विभिन्न पृथक् राज्य जो कभी अलग-अलग थे और जिनके आधार पर जर्मनी और सयुक्त राज्य अमेरिका संगठित हुए। परन्तु यूरोप सम्बन्धी इतिहास ग्रन्थों का विषय यूरोप नही रहा है। आप किसी भी भाषा में लिखे यूरोपीय इतिहास विषय के किसी ग्रन्थ की जाँच कर लीजिए तो आपको पता चलेगा कि वस्तुतः वह यूरोप का इतिहास है ही नही : वह उन देशो या जातियों के लोगो का इतिहास, या फुटकल इतिहास विवरणों का सकलन है जो यूरोप के अन्तर्गत आते हैं। इन ग्रन्थो में फ्रांस, जर्मनी, ब्रिटेन, आदि विभिन्न यूरोपीय देशो के इतिहास विषयक अलग-अलग अध्याय तो मिलेगा किन्तु ऐसा अध्याय शायद मुश्किल से एक-आध ही हो जिसमे यूरोप पर समष्टि रूप से दृष्टि डाली गयी हो। यह सही है कि कैथलिक धर्म, सामन्तवाद, या एक-दो अन्य विषयों, जो यूरोप के सभी देशों मे समान रूप से व्याप्त है, के विवरण इन पुस्तको में पढ़ने को मिलेगे परन्तु 'पवित्र रोमन साम्राज्य' जैसे विषय को भी एक विस्तीर्ण और व्यापक आधार नही प्राप्त हुआ है। जर्मनी के सम्बन्ध में यह बात खासतौर से लागू होती है जहाँ विशेष बल देते हुए उसे 'जर्मन राष्ट्र का पवित्र रोमन साम्राज्य' बतलाया गया है। एक गठित इकाई के रूप मे यूरोप के अस्तित्व का भाव यूरोपीय बच्चो के सामने नही प्रस्तुत होता और वे अपने उस अतीत का इतिहास नही जान पाते

जिसके आधार पर वे और उनका यूरोपीय महादेश अपनी वर्तमान स्थिति तक पहुँच सका है।

इसीलिए 'काउंसिल आफ यूरोप' को आवश्यक दिखाई दिया कि वह यूरोप के स्कूलों के इतिहास के पाठ्यक्रम में यूरोपीय इकाई की भावना को प्रोत्साहित करने के उपाय अग्रसर करे। यदि अंग्रेजो के अतीत इतिहास में ऐसी बातें मौजूद हैं जिनके द्वारा उनके राष्ट्रीय वातावरण का निर्माण हुआ है और इस आधार पर उनकी जानकारी प्रत्येक अंग्रेज के लिए आवश्यक होनी चाहिए तो उसमें कुछ (शायद और बड़ी मात्रा में) ऐसे भी तत्त्व मौजूद है जिनसे महादेशीय वातावरण का निर्माण हुआ है और इसलिए उनकी जानकारी प्रत्येक यूरोपनिवासी को होनी ही चाहिए।

परन्तु यह महादेशीय वातावरण आखिर है क्या? वे कौन-सी बातें हैं जिनकी जानकारी, यूरोपीय महादेश के निवासी होने के नाते, हमें होनी ही चाहिए? इस प्रश्न के उठते ही अनेक कठिनाइयाँ बडी तेजी से हमारे सामने उपस्थित हो जाती है। अंग्रेजो को मालूम है कि इंग्लैण्ड वे किसे कहते हैं, कम-से-कम उसकी क्षेत्रीय इकाई की बात तो वे समझते ही है। हमारा देश टापुओ का एक समूह है और जहाँ-जहाँ इन टापुओ की भूमि समाप्त होती है वही तक उनके देश की सीमा भी है। परन्तु यूरोप के सम्बन्ध मे ऐसी कोई क्षेत्रीय परिभाषा लागू नहीं होती है। हम पश्चिमी यूरोप के लोग इस कठिनाई का पूरी तरह से अनुभव नहीं कर पाते क्योंकि हमारे सामने तो भूमि के अन्त तथा फिनिस्टर आदि तक यूरोप के क्षेत्र की पश्चिमी सीमा मौजूद ही है। परन्तु दूसरी दिशा में यह प्रश्न इतना सरल नही है। एक गठे हुए छोटे टापू में रहने वाले हम ब्रिटिश लोग इस कठिनाई का अनुभव उतनी आसानी से नही कर सकते जितनी कि फ्रेंच या जर्मन लोग (जिन्हें, उदाहरणार्थ, इसी बात की निश्चित जानकारी नही है कि एलसेस जर्मनी का अंग है या फ्रांस का) या डेनमार्क के लोग (जिनके मन में होल्सटेन की स्थिति की द्विविधा मौजूद है) अथवा इटली के लोग (जो स्विटजरलैण्ड तथा टाइरोल के सम्बन्ध में अन्य राष्ट्रों के साथ अनिश्चय की अवस्था में हैं); और स्पेन के लोग भी, क्योंकि वे निश्चयपूर्वक नही जानते कि पेरीनीज पर्वतमाला के कुछ अंशों को स्पेन का भाग माना जाय या फ्रांस का। और जब पश्चिमी यूरोप की सीमाओं के सम्बन्ध में ही

इस प्रकार की द्विविधा की भावना मौजूद है तो फिर पोलैण्ड और बालकन राज्यों की अवस्था इस सम्बन्ध में और भी शोचनीय है जिनकी सीमाएँ अतीत काल के इतिहास में निरन्तर बदलती रही है और उनमें अब भी परिवर्तन होता रहता है।

परन्तु यूरोप के विभिन्न देशों के बीच सीमा की ये समस्याएँ तो उस बड़ी समस्या की तुलना में नगण्य है जो यूरोपीय महादेश की पूर्वी सीमा के सम्बन्ध में मौजूद है। यूरोप की इस पूर्वी सीमा का विस्तार कहाँ तक है? अधिकाश अंग्रेज लोग इसके उत्तर में बड़ी आसानी से कह बैठेगे यूराल पर्वत तक। परन्तु वस्तुतः पूर्वीय यूरोप के बहुत बडे भाग तक यूराल पर्वतमाला का विस्तार है ही नही। यूराल पर्वत के दक्षिणी छोर और ग्रीक की दक्षिणी सीमा के बीच लगभग १५ अक्षांशों का अन्तर है अर्थात् उतना बडा फासला जितना कि लन्दन और आइसलैण्ड या एल्जियर्स के बीच। काकेशस पहाडो को हम मोटे तौर से यूरोप और एशिया की सीमा पर स्थित मान सकते है परन्तु यूराल और काकेशस पर्वतो के बीच लगभग १४०० मील तक निचली भूमि का क्षेत्र है जिसका कुछ भाग (यह सम्पूर्ण हालैण्ड के क्षेत्र से सम्भवत. दस या बीस गुना है) समुद्र की सतह से भी नीचा है और इस विस्तीर्ण क्षेत्र में कही भी कोई प्राकृतिक सीमा दोनो महादेशो के बीच नही निश्चित की जा सकती। यदि आप कैस्पियन सागर के उत्तरी छोर पर रहते हैं तो क्या आप बता सकेंगे कि आपका मकान यूरोप में स्थित है या एशिया मे? वहाँ के निवासियों में से किसी भी व्यक्ति को इस सम्बन्ध में तनिक भी पता नहीं है।

कम-से-कम इतना तो है ही कि यूरोप की पूर्वी सीमा यूराल पर्वत तक बताने मे हम अपने उत्तर की पुष्टि विभिन्न एटलसों (मानचित्र पुस्तको) से समान रूप से नहीं कर सकेंगे। विभिन्न देशों द्वारा प्रकाशित मानचित्र पुस्तकें पूर्वी यूरोप की सीमा एक जैसी ही नही अपितु भिन्न-भिन्न रूप मे देती है। कितने ही ब्रिटिश और विदेशी ऐतिहासिक मानचित्रो में यूरोप की पूर्वी सीमा का अकन ही नही किया जाता और इस प्रकार इस प्रश्न को टाल दिया जाता है। यह तो निश्चय ही बहुत बेतुकी बात होगी कि छोटी पहाड़ियों—जिनकी ऊँचाई वेल्स की पहाड़ियों से अधिक नही है—के इधर और उधर बसे हुए दो परिवारों को हम भिन्न-भिन्न महाद्वीपों का निवासी मानें और यह बेतुकापन उस दशा में तो उपहासास्पद हो जाता है जब

यूराल नदी के दलदल वाले विभिन्न तटों में बसे परिवारों को हम एक-दूसरे से भिन्न महाद्वीप वाला मानें। मानचित्रों में चाहे जो भी इस सम्बन्ध में अंकित किया गया हो, इस प्रकार बसे हुए दो भिन्न परिवार वास्तव में एक ही जिले के निवासी हैं और यह जिला आर्थिक दृष्टि से किसी के भी अधिकार के अन्तर्गत नहीं आता तथा यह कोई भी नही कह सकता कि वह यूरोप का अंग है या एशिया का।

परन्तु इतना तो सभी जानते है कि यह सम्पूर्ण क्षेत्र रूस की सीमा के अन्तर्गत है। यूरोप के सम्बन्ध में यह भी एक बहुत बड़ी विडम्बना और भ्रान्ति हम लोगों के मन में बनी हुई है। हम 'यूरोपीय रूस' और 'एशियाई रूस' की चर्चा करते हैं, परन्तु राजनीतिक, और आर्थिक दृष्टि से भी, ऐसे पृथक् खण्डों का अस्तित्व ही कहाँ है ? यह दोनो ही वस्तुतः एक है—केवल रूस। अतः यह मूर्खता की बात होगी यदि हम लेनिनग्राड और व्लाडीवोस्टक के निवासियों को एक ही राजनीतिक और सास्कृतिक इकाई का अग न माने। और जब समूचे ससार के बीच ऐसे विशाल आकार मे खडा हुआ है तो हम छुटभैये किस मुँह से कह सकते है कि रूस का एक पैर यूरोप मे और एक पैर एशिया में है। यद्यपि रूस आज के युग में बाल्टिक सागर से प्रशान्त महासागर तक विस्तीर्ण है फिर भी रूस की समष्टिपूर्ण अस्तित्व की भावना वास्तविक है। यूरोप और एशिया के स्वरूप की पूर्णता की भावना उतनी वास्तविक नही है। मध्य युग में तो यह भावना वास्तविक थी ही नहीं, किन्तु आज जब यूरोप की एक शासन शक्ति की सत्ता चीन तक फैली हुई है और अन्य यूरोपीय शासनो ने अटलाटिक तथा प्रशान्त महासागरो के बीच के भूभाग मे रूस से भी अधिक मात्रा मे यूरोपीय सभ्यता प्रसारित कर दी है तब तो ऐसी भावना की अवास्तविकता और भी प्रत्यक्ष है।

यद्यपि रूस शायद यूरोप की सबसे जटिल समस्या है और एशिया में उसके क्षेत्र का विस्तार सम्पूर्ण यूरोप के क्षेत्र से भी अधिक है फिर भी यूरोपीय समाज का आवश्यक अंग होने का उसका दावा बहुत सुदृढ़ है। वह पोलैण्ड या स्लोवाकिया जितना स्लाव जाति और ईसाई धर्म वाला देश तो है ही, वस्तुतः वह इन दोनों देशो से भी अधिक मात्रा में स्लोवाकी राष्ट्र कहलाने का अधिकारी है और धर्म के मामले में, वह कम-से-कम अपनी दृष्टि में तो, रोम से भी अधिक कट्टर ईसाई धर्मा-वलम्बी है। यह भी सही है कि गत ५०० वर्षों में ऐसा कोई भी समय नहीं रहा है

जब रूस ने पूर्व की ओर अपनी दृष्टि न डाली हो और उसके विकास का विचार न किया हो परन्तु पीटर महान् ने तो रूस की सामाजिक व्यवस्था के कम-से-कम ऊपरी स्तर का यूरोपीयकरण किया ही, उसके लिए यूरोपीय ढंग की राजधानी का निर्माण किया जो अटलांटिक महासागर की ओर उन्मुख थी। पूर्व की दिशा में उसके विस्तार के लिए पर्याप्त क्षेत्र पड़ा हुआ था और वहाँ उसके मार्ग में कोई प्रभावकारी अवरोध भी नहीं था। परन्तु पश्चिम की दिशा में उसके प्रसार का निरन्तर विरोध रहा जो वस्तुतः बहुत ही प्रबल था। फिर भी रूस ने विश्चुला और ओडर के भी पार एल्ब के किनारे के स्लाव क्षेत्र पर सदा अपनी ललचायी दृष्टि रखी है—स्वयं स्लाव होने के नाते उसकी यह भावना और भी तीव्र तथा अपने घर को वापस लौटने-जैसी रही है। यह क्षेत्र हजार वर्ष पूर्व स्लाव था और जर्मनी की 'ड्रैंग नैच ओस्टेन' नीति का शिकार होने तक बना रहा। इस प्रक्रिया का प्रारम्भ आठवी शताब्दी में टयूटनी जाति वाले चार्लमेन ने किया और सोलहवी शताब्दी में टयूटनी परम्परा के महान् व्यक्ति ने इसे परिपूर्ण किया। आधुनिक समय में रूस ने पिछले हजार वर्षों के इतिहास को एकदम पलट दिया और ओडर तथा एल्ब क्षेत्र भी अब पुनः स्लाव लोगो के अधिकार में हैं। चार्लमेन से लेकर बिसमार्क तक जर्मनी के बड़े-से-बड़े राजनीतिज्ञो ने अपने कठोर परिश्रम से जो भव्य इमारत खड़ी की वह धराशायी हो गयी है। स्लाव लोग पुन. उसी स्थिति में आ गये हैं जिसमें वे मध्ययुग में थे।

वस्तुतः यहाँ की समस्या, यूरोप की पूर्वी सरहद के ठीक प्रतिकूल पक्ष वाली है और यहाँ के सम्बन्ध में जर्मनी की यह शिकायत उचित ही है कि पश्चिम वालो ने उसे समझने में एकदम गलती की है। इसकी शिकायत तो वह बहुत चिल्लाकर करता है परन्तु इधर हाल के जमाने में वह बराबर अपने हडप लिये जाने की पुकार इतने अधिक बार और इतनी दृढ़तापूर्वक करता रहा है और साथ ही अन्य राष्ट्रो जैसे ही व्यवहार और मुसीबतो का सामना होने पर वह अपने को इतना निरीह मानता रहा है कि उसकी बातो को गम्भीरतापूर्वक ध्यान देने योग्य न मानने का हम पश्चिम वालो का व्यवहार क्षम्य हो सकता है। पश्चिम में स्थित होने के कारण और इसलिए भी कि जर्मनी पश्चिम के सभी देशो से युद्ध कर चुका है हम स्वभावतया यह भूल जाते हैं कि जर्मनी की मुख्य उलझनें अपनी पूर्वी सीमा के सम्बन्ध में है।

सदा ही जर्मनी की मुख्य चिन्ता का विषय ब्रिटेन या अमेरिका या फ्रांस भी नहीं अपितु रूस रहा है। जर्मनी की मुख्य समस्या अपने पश्चिम के सम्बन्ध में नहीं बल्कि पूर्व के सम्बन्ध में रही है। आधुनिक जर्मनी को राइन के पार सदा राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक असफलता का सामना करना पड़ा है और विश्चुला के पार तो उसके सामने मौत ही खड़ी रही है। और आज वर्तमान समय में तो मृत्यु की विभीषिका उस पर व्याप्त है और हम पश्चिम वाले—यद्यपि जर्मनी के बध में हमारा हाथ रहा है—यह अनुभव ही नही करते कि उस पर क्या बीती है। आज जर्मनी—कैसर, बिस्मार्क और फ्रेडरिक महान् वाला जर्मनी मर चुका है और बीसवीं शताब्दी उसे पुनर्जीवित होते देख सकेगी या नहीं यह नही कहा जा सकता। स्लाव खतरे ने, जिससे शार्लमान के समय से ही जर्मनी आतंकित रहा है और जिससे बचने के लिए शार्लमान तथा उनके बाद कितने ही जर्मन राजनीतिज्ञों ने सुरक्षात्मक अवरोध खडे किये, आखिरकार जर्मनी को आप्लावित ही कर दिया। जर्मनी—वह जर्मनी जिसका मुख्य नगर पहले वियना था और बाद में बर्लिन—अब अपना अस्तित्व खो चुका है। कम-से-कम तीन शताब्दियों तक जर्मनी के राजाओं, कैसरों और चासलरों ने, नेहेमिया के सैनिकों के समान, एक हाथ में कन्नी और दूसरे में तलवार सम्हाल कर अपने देश को एकता के सूत्र में बाँधने तथा जर्मन राष्ट्र के पुराने पवित्र रोमन साम्राज्य के पुन: स्थापन का अथक प्रयत्न किया। वे इसमें सफल भी हुए और पचास या पचहत्तर वर्ष तक फिर से जर्मन साम्राज्य का अस्तित्व बना रहा। परन्तु अब वह समाप्त हो गया है। अब पुनः जर्मनी के टुकड़े-टुकड़े हो गये हैं और पश्चिम के देश यह अनुभव करने लगे हैं कि शार्लमान तथा टयूटनी सरदारों, फेडरिक महान् और बिस्मार्क और कैसर तथा हिटलर के भी विचार सही थे कि जर्मनी को नष्ट कर देने के साथ ही पश्चिमी यूरोप के पूर्ववर्ती द्वार सर्वव्यापी स्लाव लोगों के लिए खुल जाते हैं।

कम-से-कम जर्मन इतिहासकारो ने स्थिति पर इसी ढंग से विचार किया है और आजकल बहुत-से फ्रेंच, अंग्रेज तथा अमेरिकन इतिहासकारों ने भी इसी दृष्टि से देखना प्रारम्भ कर दिया है। इनका यह दृष्टिकोण सही है या नहीं यह जर्मनी की किसी भी सरकार द्वारा अपनायी गयी नीति पर नही निर्भर करेगा अपितु इस बात पर कि स्लाव लोग वास्तव में यूरोपियन हैं या नही—और केवल स्लाव ही

नहीं बल्कि स्वयं जर्मन लोग भी यूरोपियन माने जा सकते हैं या नहीं। उन पूर्वी क्षेत्रों में 'यूरोप की भावना' के सम्बन्ध में दो प्रश्न उठते हैं—क्या रूसी लोग वास्तव में यूरोपियन हैं और क्या जर्मन लोग इस परिभाषा के अन्तर्गत आते हैं ? हम यह मानते आये है कि ईसाई धर्म, ग्रीस और रोम यूरोप की तीन आधार शिलाएँ हैं। अतः यह देखना है कि रूस और जर्मनी इन आधारो पर कहाँ तक आधारित हैं। अपने-अपने ढग से दोनों ही देश ईसाई धर्म मानने वाले रहे हैं। रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत इनमें से कोई भी देश कभी नही रहा। वेस्टफेलियन गेट से शत्रु को पीछे खदेड़ने वाले बहुत-से जर्मन सेनाध्यक्षो में से सर्वप्रथम आर्मीनियस ने आगस्टस की खोयी हुई सैनिक टुकड़ियो और साथ ही अन्य लोगों को भी समाप्त किया। अन्य पश्चिमी क्षेत्रों के समान जर्मनी के भी रोमन प्रभाव में आने की सम्भावना भी उसने समाप्त कर दी। मध्यकालीन जर्मनी रोमन साम्राज्य का अग कभी भी रहे बिना ही रोमन धर्म संगठन (चर्च) के अन्तर्गत रहा। अत· यह कोई आश्चर्य की बात नही है कि मध्यकालीन और आधुनिक जर्मनी न तो फ्रास, इटली, स्पेन, और इग्लैण्ड के लोगों को समझ सका और न इन देशो के लोगो को स्वय जर्मनी के लोगों को समझने का अवसर मिल सका।

इस कसौटी के आधार पर इतिहास की छानबीन करने से, सामान्य धारणा के प्रतिकूल, जर्मनी की अपेक्षा रूस कही अधिक यूरोपीय सिद्ध होता है। ग्रीस के प्रभाव के सम्बन्ध में जर्मनी की भी स्थिति वही है जो पश्चिम के अन्य देशों की अर्थात् वह भी पुनर्जागरण (रिनेसां) के बाद ही इस सम्पर्क में आया। दूसरी ओर रूस की स्थिति यह है कि सम्पूर्ण मध्ययुग में उसका ग्रीस से सीधा सम्पर्क रहा। उसके लिए रोमन साम्राज्य की राजधानी रोम नही बल्कि बैज़ेन्टियम रही—जो वस्तुतः रोम से भी दुगुनी अवधि तक रोमन साम्राज्य की राजधानी थी। इसके अलावा सम्पूर्ण मध्ययुग में और उसके बाद से भी रूस ग्रीक धर्म सगठन (चर्च) का सदस्य रहा। अंग्रेजी गिरजाघर के प्रवचनो के समान ही रूस भी 'रोम के पादरी और उसके अवाछनीय आडम्बर' के प्रति अविश्वासी तथा यह मानने वाला रहा कि रोम के पोप के अनुयायी अधार्मिक हैं। यदि पश्चिमी देशों की तुलना में रूस के इतिहास में रोम के प्रभाव की मात्रा अपेक्षाकृत कम रही है तो इसकी क्षतिपूर्ति स्वरूप उस पर ग्रीस के प्रभाव की मात्रा पश्चिमी देशों की अपेक्षा

दुगुनी रही है। ग्रीक और रोमन और ईसाई धर्म के तत्त्वों के आधार पर इतिहास से पश्चिम की भावना का निर्माण किया है। रूस में रोमन प्रभाव तो नहीं रहा है परन्तु ईसाई धर्म का प्रभाव तथा दुगुनी मात्रा में ग्रीक प्रभाव तो वहाँ स्पष्ट है। दूसरी ओर जर्मनी में उतनी ही मात्रा में ईसाई धर्म का प्रभाव, और पुनर्जागरण-काल के बाद ग्रीस का प्रभाव भी रहा; किन्तु रोम के प्रभाव में वह कभी भी नही रहा। अतः इन तर्कों के आधार पर 'यूरोप की भावना' की परिधि के अन्तर्गत रूस, जर्मनी की अपेक्षा कही अधिक आता है। परन्तु यह धारणा एकदम बेतुकी है। अतः इस प्रश्न पर दूसरे और भिन्न दृष्टिकोण से विचार करने की आवश्यकता है।

संस्कृति के इतिहास के क्षेत्र की छानबीन से सन्तोषजनक उत्तर प्राप्त न होने पर क्या ऐतिहासिक भूगोल के अध्ययन के सहारे सफलता पाने की आशा की जा सकती है ? यहाँ भी जो प्रमाण हमारे सामने है उनसे विचारों की उलझन ही पैदा होती है। ऐतिहासिक भूगोलो अथवा नक्शो में कभी भी यूरोप की पूर्वी सीमा निर्धारित नही की गयी है। इस मामले मे हम पश्चिम वाले स्वयं अपनी ही भ्रान्तियो के शिकार रहे है। हमारी स्पष्ट इच्छा यही रही है कि प्रत्येक युद्ध का अन्त होने पर यथापूर्व या उसमे थोड़ी-सी फेर-बदल वाली स्थिति आ जाय। फलतः १९४५ में हम रूस के इस आग्रह को असहायपूर्ण विस्मय से देखते रहे कि एल्ब के पूर्व में यथापूर्व स्थिति जैसी कोई अवस्था रही ही नही है। इतिहास के सम्बन्ध में स्लाव मान्यताओं के अनुसार प्रशा और पश्चिम में ओडर तक का सम्पूर्ण क्षेत्र स्लाव प्रदेश है और ओडर तथा एल्ब के बीच का क्षेत्र भी विवादास्पद प्रदेश रहा है। पतनशील रोमन साम्राज्य के समय मे जब बर्बर राष्ट्र पश्चिम की ओर अपने पैर बढा रहे थे तो उनके बीच यह क्षेत्र विवाद का विषय रहा। उस समय भी यह क्षेत्र विवादग्रस्त रहा जब आठवी शताब्दी में चार्लमेन ने जबर्दस्त स्लाव आक्रमण विफल किया और जब अन्य शक्तियों के साथ ही टयूटनी सरदारों ने अपनी जर्मन 'ड्रांग नाय आस्टेन' जारी रखी। चार्ल्स बारहवें और पीटर महान् के बीच तथा कैथरीन महान् और फ्रेडरिक महान् के बीच भी यह क्षेत्र विवाद का विषय रहा। इसी प्रकार १८१२ में नेपोलियन ने इसे विवादग्रस्त क्षेत्र माना और रूसी जारों ने उन्नीसवी शताब्दी भर इसे ऐसा ही

माना, १८५० के लगभग क्रीमिया के मार्ग से ग्रीस के स्वातन्त्र्य युद्ध के समय, १८७० के लगभग बाल्कन के मार्ग से और १९१४-१९ के महायुद्ध के समय तक वर्तमान समय में यह क्षेत्र स्टालिन और हिटलर के बीच विवाद का विषय बना। इस बार इस विवाद का अन्त निश्चित रूप से स्लाव लोगों के पक्ष में हुआ जिन्होंने टयूटन और स्लाव लोगो को अलग करने की सीमा उसी स्थान पर पहुँचा दी जहाँ वह हजार वर्ष पहले थी। कालचक्र ने अपना प्रतिशोध ले लिया है। यह तो भविष्य ही बतलायेगा कि क्या इस सम्बन्ध में एक बार फिर पासा पलटेगा। इस बीच इतिहासकार इस विषय के अपने बौद्धिक विवाद जारी रख सकते हैं कि इतिहास के विभिन्न समयों में यूरोप की पूर्वी सीमा की रूपरेखा क्या थी।

'यूरोप की भावना' को समझने की दृष्टि से पूर्वी सीमा का इतिहास इतना अनिश्चित रहा है कि उसके सामने अन्य सभी कठिनाइयाँ अत्यन्त छोटी प्रतीत होती हैं। फिर यूरोप की सीमा सम्बन्धी इतिहास की समस्याएँ पूर्व और उत्तर के बारे में ही नही अपितु दक्षिण-पूर्व, दक्षिण-पश्चिम और उत्तर-पश्चिम के सम्बन्ध में भी रही है। हमारे उत्तर-पूर्वी टापुओं (ब्रिटेन) में यूरोप सम्बन्धी उसकी निष्ठा सदैव संदिग्ध मानी जाती रही है। यह कहना तो शायद बहुत ही बेतुका होगा कि ब्रिटेन यूरोपियन (यूरोप के अन्तर्गत आने वाला देश) नही है, फिर भी अन्य यूरोपियन देश बहुधा इस सम्बन्ध में अपना सन्देह प्रकट करते हैं। यूरोपीय समाज के निर्माण मे योगदान देने की हमारी अतत्परता पर वे इस समय खीझ उठते हैं और दूसरी ओर हममें अपने को अलग रखने की भावना इस समय भी उतनी ही है जितनी कि अतीत काल मे थी। जिस हद तक हम अपनी इस विलगाव की भावना पर गर्व करते है उतने अंशो मे तो हम अपने को यूरोप महाद्वीप से दूर रख ही रहे है। यूरोप के किसी अन्य देश को किसी ब्रिटिश नागरिक की यात्रा को 'महाद्वीप गमन' (कान्टीनेन्ट) कहने की हमारी आदत पर विदेशियो के मन में विभ्रम होता है क्योंकि ऐसे कथन में इस भावना की ध्वनि रहती है कि ब्रिटेन महाद्वीप (कान्टीनेन्ट) का एक अग न होकर इससे पृथक् अस्तित्व रखता है। और ऐसी ही उलझन विदेशी इतिहासकारों को यह देखकर भी होती है कि 'यूरोप के इतिहास' विषय पर लिखित अंग्रेजी की किसी भी पुस्तक में ब्रिटेन के बारे में एक भी अध्याय नही रहता। हमारी 'ब्रिटेन के इतिहास' विषय की पुस्तकों में

भी यह बात बड़े स्पष्ट ढंग से प्रतिपादित की जाती है कि यूरोप महाद्वीप के किसी अन्य देश की अपेक्षा ब्रिटेन के कहीं अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध अन्य सभी महाद्वीपों मे स्थित विभिन्न देशों से हैं। कारण यह है कि ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के अधिकांश नागरिक यूरोप के बाहर के ही निवासी हैं और इससे भी अधिक सत्य यह है कि उनमें गोरी चमड़ी वाले अल्पसंख्यक ही हैं। यद्यपि इस बात का विश्वास तो शायद कोई भी नहीं करता होगा। परन्तु बहुत-से ब्रिटिश लोग, जिनमें इतिहासज्ञ तथा अन्य वर्गों के भी व्यक्ति हैं, अपने आचरण से यही सिद्ध करते हैं कि उनके लिए यूरोप की उत्तर-पश्चिमी सीमा डोवर की खाड़ी ही है।

लगभग इसी प्रकार की अनिश्चय की स्थिति दक्षिण-पश्चिमी सीमा के सम्बन्ध मे भी है। पीरीनीज पर्वत अत्यन्त सुदृढ़ सीमा के रूप में मौजूद है और सम्पूर्ण मध्य युग में यही या इसके पास-पड़ोस में ही ईसाई और इस्लाम धर्मों की विभाजन सीमा थी। यद्यपि रोमन साम्राज्य की सीमा दक्षिण दिशा से आईबीरियन प्रायद्वीप के भीतर तक घुसी हुई थी परन्तु पवित्र रोमन साम्राज्य (रोमन कैथलिक धर्म) उत्तर की ओर से इस प्रायद्वीप पर अपना अधिकार नही बनाये रख सका। फिर भी आधुनिक समय में, ब्रिटेन के समान, स्पेन भी एक पृथक् देश बना रहा है। इधर हाल में उसने शेष पश्चिमी यूरोप में प्रचलित जनतन्त्र के विरुद्ध अपना शासन स्वरूप निर्धारित किया और १९५८ तक स्पेन, रूस के समान (परन्तु तुर्की और आइसलैण्ड के प्रतिकूल), 'काउन्सिल आफ यूरोप' का विरोधी रहा है।

फिर भी स्लाव-जर्मन जैसी सीमा जटिलता का प्रश्न हमारे सामने पश्चिम के सम्बन्ध में नही बल्कि दक्षिण-पूर्व के सम्बन्ध में प्रस्तुत होता है। दक्षिण-पूर्व मे इतिहास को मध्य युग में बैज़ेन्टियम का और आधुनिक काल में तुर्की का स्थान निर्धारण करना होगा। बैज़ेन्टियम तो निश्चित रूप से सदैव यूरोप में ही रहा। किन्तु यदि इसे सही माना जाय तो फिर मध्य युग में सम्पूर्ण एशिया माइनर और सीरिया के बहुत बडे भाग को, यदि अफ्रीका के बड़े भाग को नही, यूरोप के अन्तर्गत क्यों न माना जाय, क्योंकि ये सभी बैज़ेन्टाइन साम्राज्य के अभिन्न अंग थे। आखिरकार स्वयं एशिया माइनर को सीरिया वालों ने 'रोम' नाम दे दिया था और एक आधुनिक अंग्रेज ने इसे 'यूरोप माइनर' की नयी सज्ञा प्रदान की है। पाम्पे के समान ही अपने प्रारम्भिक काल में बैज़ेन्टियम भी इस बात का दावा कर

सकता था कि उसने रोमन साम्राज्य का विस्तार यूफ्रेटीज नदी तक कर दिया। फिर भी पाम्पे ने सीजरों को जो साम्राज्य विरासत में दिया वह निश्चय ही यूरोपीय था।

परन्तु वर्तमान युग मे इस समस्या का स्वरूप एकदम पलट गया है। आज प्रश्न लेवेन्ट प्रदेश (भूमध्यसागर के पूर्वी भाग) तक यूरोप के विस्तीर्ण हो जाने का नही अपितु लेवेन्ट वासियो द्वारा यूरोप में अपने पैर पसार लेने का है। क्या आज तुर्की यूरोप के अन्तर्गत आता है? यदि बैजेन्टियम और कान्स्टैन्टिनोपिल यूरोप के अन्तर्गत थे तो फिर इस्तम्बूल को हम कहाँ मानेंगे? और यदि इस्तम्बूल भी यूरोप के अन्तर्गत माना जाय तब अंकारा के सम्बन्ध मे यही प्रश्न उठता है। क्या आधुनिक तुर्की का स्वरूप, मध्यकालीन बैजेन्टियम के समान ऐसा है कि हम एशिया माइनर को भी यूरोप के अन्तर्गत मानें। आधुनिक तुर्की का प्रायः सभी भाग हम एशिया के अन्तर्गत मानते है और फिर भी तुर्की 'काउंसिल आफ यूरोप' में सम्मिलित है। कम-से-कम यह कहना तो किसी भी प्रकार ठीक नही है कि इस्तम्बूल और अंकारा दो भिन्न महाद्वीपो में स्थित है। ये दोनों एक ही संस्कृति के अन्तर्गत हैं और स्वयं तुर्क लोगो का यही आग्रह है कि उनकी यह सस्कृति 'यूरोपीय' है।

तुर्की का प्रश्न एक विशिष्ट प्रश्न है और इसलिए उस पर विशेष ढंग से विचार करने की आवश्यकता है। तुर्क लोगो का प्रवेश यूरोप के अन्तर्गत सबसे बाद में हुआ है और प्रायः सभी अन्य यूरोपीय लोग उन्हें अब भी बाहरी मानते है। इटालियन, गाल, जर्मन, स्पेनी, अग्रेज, स्कैन्डिनेवियन आदि सभी लोग पिछले २००० वर्षों से यूरोप के निवासी रहे हैं। परन्तु तुर्क लोगो को यूरोपीय हुए ६०० वर्ष भी मुश्किल से बीते है। परन्तु यह तर्क भी निर्णयात्मक नही कहा जा सकता। जितने समय से अमेरिकन लोग अमेरिका में रहे है उससे तो कही अधिक समय से तुर्क लोग यूरोप के अन्तर्गत है ही। अतः निवास-अवधि की सीमा के आधार पर तुर्कों का पक्ष अप्रमाणित होने की अपेक्षा प्रमाणित ही अधिक होता है। परन्तु तुर्कों के पक्ष की पुष्टि वस्तुतः अन्य और भिन्न प्रकार के प्रमाणो के आधार पर होती है। उनका पक्ष केवल इस आधार पर ही नहीं प्रमाणित होता कि दीर्घकालीन इतिहास के विभिन्न समयो में यूरोप की दक्षिण-पूर्वी सीमा बराबर बदलती रही है

बल्कि सांस्कृतिक समानता के आधार पर भी। आधुनिक यूरोप के अन्तर्गत तुर्कों की गणना अधिक से अधिक छः शताब्दियों से ही होती रही हो परन्तु रोमन साम्राज्य का अंग तो वे ९०० वर्षों से भी अधिक समय तक थे। फिर, ज्यों-ज्यों उनका विस्तार पतनोन्मुख बैज़ेन्टाइन साम्राज्य के अन्तर्गत हुआ तैसे-तैसे वे उसकी कितनी ही परम्पराएँ अपनाते गये। फलतः मध्य युग के अन्तिम चरण और आधुनिक युग के पहले चरण में ओहोमान (तुर्क) साम्राज्य का स्वरूप (एथेन्स विश्वविद्यालय के एक ग्रीक इतिहासकार के शब्दों में) 'तुर्कों द्वारा शासित बैज़ेन्टाइन साम्राज्य' जैसा हो गया।

पश्चिमी यूरोप का ध्यान इस बात की ओर न तो इस समय गया और न उसके बाद से ही उसने इसका अनुभव किया है। यूरोप के पुराने निवासियो को ओहमान लोगो का यूरोप में प्रवेश रोमन संस्कृति के संरक्षक के रूप में नही अपितु 'क्रूर तुर्क' के रूप में दिखाई दिया; और ग्लैडस्टन के समय तक तथा उसके बाद भी' क्रूर तुर्क' वाली भावना व्याप्त रही। यूरोप के पुराने निवासियों का तुर्कों से सम्पर्क मुख्यतया युद्धस्थल में ही हुआ अथवा व्यवसाय के सम्बन्ध में जिसका स्वरूप युद्ध-जैसा ही होता था। तुर्की के इतिहासकारों का मत है कि इन्ही कारणो से तुर्की के इतिहास के सम्बन्ध में पश्चिम के लोगों के विचार सदैव भ्रान्तिपूर्ण रहे हैं। पश्चिमी पाठ्य पुस्तकों में तुर्की के युद्धो का विवरण तो बराबर दिया गया है किन्तु उनमें सामान्यतया तुर्की सस्कृति की तथा यूरोप के निर्माण में उसके योगदान (तुर्कों के अनुसार इसकी मात्रा पर्याप्त है) की उपेक्षा की गयी है। फिर यदि पश्चिम मे तुर्की संस्कृति का स्वरूप बैज़ेन्टाइन वाला था तो पूर्व में उसका स्वरूप अरबी था। फिर भी पश्चिमी पुस्तको में जहाँ अरब विद्या और ज्ञान से यूरोप के लाभान्वित होने की बात स्वीकार की जाती है वहाँ इस बात का उल्लेख कभी भी नही किया जाता कि अरब ज्ञान की उन्नति और प्रसार जिस शासन की छत्रछाया में हुआ वह तुर्की शासन ही था। १४५३ में कान्स्टैन्टीनोपिल पर तुर्की का अधिकार होने के परिणामस्वरूप ही ग्रीक विद्या का प्रवाह पश्चिमी यूरोप में सम्भव हुआ और उदार तुर्की शासन के कारण ही ग्रीक संस्कृति तथा अरबों की संस्कृति आधुनिक समय तक सुरक्षित रह सकी है।

पश्चिम के लोगों को किसी गलती का शिकार नही होना चाहिए। तुर्कों

का दावा है कि उनके शासन का जो बर्बर और स्वेच्छाचारी रूप बहुधा पश्चिमी पुस्तकों में अंकित किया जाता है वैसा वह कदापि नही था । वस्तुत: उनका शासन उदार और उदात्त था । उनका ओहोमान साम्राज्य सदैव विभिन्न जातियो और धर्मों के संगम या समुच्चय-जैसा था । तुर्की के इतिहासकारो के अनुसार उनके इस शासन के अन्तर्गत विभिन्न जातियो और धर्मों के प्रति मध्य युग में उसकी अपेक्षा कही अधिक उदार व्यवहार किया गया जैसा कि ईसाई धर्म वाले शासनो में किसी भी जाति या धर्म के अल्पसख्यकों के प्रति हुआ होगा । सोलहवी शताब्दी तक तुर्की साम्राज्य की आधी आबादी ईसाई धर्म मानने वाली थी और १४५३ के पूर्व और उसके बाद भी हर सप्रदाय के ईसाइयो को तुर्की में उससे कही अधिक धार्मिक स्वतन्त्रता थी जो कि पश्चिमी यूरोप मे गैर-कैथलिक धर्मावलम्बियो को उपलब्ध थी । उनकी धार्मिक स्वतन्त्रता की मात्रा इतनी अधिक थी कि कितने ही ईसाई ओहमान शासन के मातहत स्वामिभक्त राजसेवी थे और इनसे भी बडी संख्या के लोग तुर्क हो गये । इस शासन के अन्तर्गत धार्मिक प्रताडन तो होता था परन्तु इस सम्बन्ध में स्थिति उससे अधिक गिरी हुई नही थी जैसी कि पश्चिमी यूरोप में थी । यदि विधर्मियो की हत्या की जाती थी तो उन्हें जिन्दा जला डालने की क्रूरता तो नही ही बरती जाती थी । ऐसे पर्याप्त प्रमाण है कि प्रताड़न धार्मिक नही अपितु राजनीतिक आधार पर होता था जैसा कि इंग्लैण्ड में हेनरी अष्टम और एलीजा-बेथ प्रथम के काल में हुआ—उस प्रकार का नही जैसा कि मेरी प्रथम के समय इंग्लैण्ड में हुआ ।

सत्रहवी शताब्दी के अन्त तक तुर्की के तेज की प्रखरता समाप्त हो गयी । अठारहवी शताब्दी का प्रारम्भ होते-होते उसे 'यूरोप के मरीज़' के नाम से पुकारा जाने लगा और उन्नीसवी शताब्दी में तो यह नौबत आ गयी कि कभी जिस तुर्की की शक्ति की प्रचण्डता चिन्ता का कारण बनी हुई थी उसी तुर्की की शिथिलता चिन्ता उत्पन्न करने लगी । जब तुर्की के यूरोपीय और अफ्रीकी प्रदेश अलग-अलग हो गये तो ऐसा प्रकट हुआ कि यह 'मरीज़' अब जिन्दा नहीं बचेगा । इसी अवसर पर अतातुर्क का उदय हुआ और उन्होने दीर्घकालीन अवनति के कारण अवरुद्ध तुर्की संस्कृति के यूरोपीयकरण की प्रक्रिया को पूर्ण कर दिया ।

अपने सम्बन्ध में तुर्की वालों का यह दावा कहाँ तक सही और स्वीकार करने योग्य है, इसे पश्चिमी इतिहासकारों को अब भी निश्चित करना है।

× × ×

'यूरोप' शब्द किस भाव का बोधक है और वस्तुतः यूरोप से हमारा क्या तात्पर्य है, इन विषयों पर हमें अपनी धारणाओ एवं मान्यताओं के पुनः निरीक्षण की सचमुच बड़ी आवश्यकता है। और इससे भी अधिक आवश्यक यह जाँच करना है कि अतीत काल में इस विषय पर हमारी क्या धारणाएँ रही है। कारण यह कि इतिहास के विभिन्न समयों में यूरोप का स्वरूप निरन्तर बदलता रहा है। 'यूरोप' नाम के ही इतिहास की छानबीन आवश्यक है। स्वयं 'इतिहास के जनक' (हिरोडोटस) को इस विषय के सम्बन्ध में बड़ी द्विविधा थी। उन्होने कहा है कि 'मै स्वयं नहीं जानता कि हम लोग संसार को, जो वस्तुतः एक ही इकाई है, तीन भिन्न-भिन्न नामों से क्यो पुकारते है, और ये तीनो नाम स्त्रीवाचक हैं (यूरोप, एशिया, अफ्रीका); यह भी ज्ञात नही है कि यूरोप की सीमा मिस्र की नील नदी और कोल्चियन फैसिस या कुछ लोगो के अनुसार ययोशियन टानाइस तथा क्रीमियन फेरी क्यो मानी जाती है…एशिया और उसके बर्बर निवासियो को पर्शिया वाले अपना मानते हैं और यूरोप तथा हेलेनी ससार को वे अपने से भिन्न प्रदेश मानते है।' हिरोडोटस को पर्शिया वालों की यह मान्यता बहुत संकुचित भले ही लगी हो परन्तु बाद के अधिकाश इतिहासज्ञों की भाँति उन्हें भी यह बात नही खटकी कि स्वयं उनके अपने क्षेत्र के लोगो के ही विचार कितने सकुचित थे जो ग्रीस-भाषी भूखण्ड से भिन्न क्षेत्र को 'कोई दूसरा प्रदेश मानते थे।' ग्रीक लोगो को यह मालूम ही नही था कि हीब्रू तथा कुछ अन्य सेमेटिक भाषाओं में 'यूरोप' शब्द की व्युत्पत्ति 'इरीबस' शब्द से मानी जाती है जिसका अर्थ है अन्धकार से आच्छादित स्थल और जहाँ विशिष्ट लोग निवास नहीं करते। ग्रीस के साहित्यिक विद्वानों के अनुसार यूरोपीय लोग यूरोपा नाम की जलकन्या और जीयस देवता की सन्तान है, और चूँकि जीयस ने श्वेत साँड़ का रूप धारण करके गर्भाधान में योगदान किया था इसलिए यह सन्तान संसार के अधिकाश सामान्य रग वाले मनुष्यों से भिन्न अर्थात् श्वेत वर्णवाली हुई।

यूरोप के सम्बन्ध में ऐसी जनश्रुतियो के प्रचलित आख्यानो के अतिरिक्त और कोई निश्चित विचार ग्रीक लोगों के नही थे। उनमें से कुछ इस नाम का प्रयोग

थ्रेस के एक भाग के लिए, कुछ और केन्द्रीय ग्रीस के लिए तथा कुछ अन्य सम्पूर्ण हेलास के लिए और कुछ हेलास तथा उससे उत्तर की दिशा में और आगे फैले हुए क्षेत्र के सम्बन्ध में करते थे किन्तु यह किसी को ज्ञात नही था कि इस क्षेत्र की विस्तार सीमा कहाँ तक है। अलेग्जेण्डर महान् तथा रोमन साम्राज्य के समय में यूरोप नाम का कोई अर्थ और महत्त्व ही नही रह गया। 'सिविस रोमनी' (रोमन साम्राज्य) का विस्तार एशिया में और यूरोप में कुछ इस ढग से था कि इन दोनों नामों का कोई अर्थ ही नही रह गया। रोमन भूगोलकार 'यूरोप' शब्द से चिपके हुए थे परन्तु पोलीबियस, स्ट्राबो और टोलमी इसका प्रयोग एक दूसरे से सर्वथा भिन्न अर्थों में करते थे। बैजेन्टाइन साम्राज्य के समय तो पूर्वी यूरोप और पश्चिमी एशिया का भाव और भी उलझन पैदा करने वाला हो गया। यद्यपि उस समय तक कैथलिक ईसाई धर्म-सगठन ने ईसाई धर्म-प्रभुता वाले क्षेत्र की एक इकाई बनाने का वादा किया किन्तु इसके पूरे होने की कभी नौबत ही नही आयी। ईसाई धर्म-संगठन 'कैथलिक' और 'आर्थोडाक्स' नाम के दो टुकड़ो में बँट गया और 'रिफार्मेशन' के समय 'कैथलिक' संगठन और छोटे टुकड़ो मे विभाजित हो गया और इस प्रकार ईसाई धर्म के आधार पर यूरोप का एक सगठन हो सकने की सम्भावना ही समाप्त हो गयी।

बहरहाल यूरोप को उसका वर्तमान स्वरूप देने वाले तीन मूल तत्त्वों—ईसाई धर्म, रोमन तथा ग्रीक—में से कम-से-कम ईसाई धर्म का उद्‌भव तो एशिया में ही हुआ। उसका प्रारम्भ पैलेस्टाइन मे हुआ और एशिया माइनर के एक रोमन नागरिक टारसल द्वारा उसके यूरोप मे लाये जाने के पूर्व उसका सबसे पहला विस्तार एशिया के सात गिरजाघरो, (सेवेन चर्चेज आफ एशिया) के रूप में हुआ। और यदि यूरोप की भावना के प्रारम्भिक काल में उसका एक मुख्य तत्त्व एशिया से प्राप्त हुआ था तो आज के समय मे 'काउसिल आफ यूरोप, का एक सदस्य ऐसा देश भी है जो न केवल एशियाई है बल्कि साथ ही मुसलमान भी। अतः ईसाई धर्म के प्रारम्भिक काल के समान ही आज भी यह दावा नही किया जा सकता कि ईसाई धर्म यूरोपियन सस्कृति का एक आवश्यक अंग है।

वही सवाल फिर पैदा होता है कि यूरोप के स्वरूप का निर्माण किन सिद्धान्तों के आधार पर माना जाय। यदि हमें यह जानना है कि यूरोपीय इतिहास के अन्तर्गत

कौन-से विषयों को पढ़ाने की आवश्यकता है तो हमें इन सिद्धान्तों का प्रतिस्थापन करना ही होगा। अब वह समय आ गया है जब हम यूरोप भर के सभी स्कूलों के लिए इतिहास के पाठ्यक्रम का मूल्यांकन एक बार फिर नये सिरे से कर लें। पिछले काल में हमने कई बार अपने पाठ्यक्रम की पुरानी परिपाटी में फेर-बदल की—जैसे उस समय जब हमने इतिहास को अपना ढोल बजाने की परिपाटी का परित्याग किया; जब हम राजनीतिक इतिहास के अन्तर्गत साम्राज्यवादी भावना का समावेश करने लगे; जब हम इतिहास के स्वरूप को पूर्णतया राजनीतिक न रखकर उसके अन्तर्गत सामाजिक इतिहास को भी थोड़ा-बहुत स्थान देने लगे; और जब प्रथम महायुद्ध के बाद सबसे पहली बार हमने इतिहास को अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान किया। अब हमें इस दिशा में एक क़दम—कई क़दम—और आगे बढ़ना है। हमें न केवल अपने से भिन्न राष्ट्रो और जातियो के इतिहास का अध्यापन अपने पाठ्यक्रम में सम्मिलित करने का कोई रास्ता निकालना है बल्कि हमें इसके सम्बन्ध में भी नये विचारों का समावेश करना चाहिए कि किसी भी जाति या राष्ट्र के इतिहास के अन्तर्गत कौन-कौन से विषय सम्मिलित किये जायँ। वे कौन-सी सास्कृतिक बातें है जिनके आधार पर यूरोप को यूरोपीय स्वरूप प्राप्त हुआ है और इस नाते जिनकी शिक्षा यूरोप के भावी नागरिको को प्राप्त होनी ही चाहिए? जिन वास्तविक महत्त्व की बातो का इस भावना के निर्माण में योगदान रहा है उनकी उपेक्षा तो नही ही की जानी चाहिए। इनमें से कुछ की शिक्षा तो हम दे ही रहे हैं और ऐसी महत्त्वपूर्ण बातों की उपेक्षा अपनी पढ़ाई के ढंग में नवीनता लाने के नाम पर ही नही कर देनी चाहिए। ईसाई धर्म—भले ही उसका उद्‌भव सीरिया और एशिया माइनर में हुआ हो—ग्रीक सस्कृति (हेलेनिज्म)—भले ही ग्रीस के सबसे प्राचीन और सबसे महान् काव्य एशियाई भावना वाले रहे हों—और रोमन संस्कृति—भले ही उसका विस्तार अन्ततः भूमध्य सागर के काफी पूर्व तक हुआ हो—ये तीन तत्त्व यूरोपीय संस्कृति के ऐसे निर्विवाद आधार स्तम्भ है कि हमें इनके सम्बन्ध में और अधिक शिक्षा देना उचित होगा। इसी प्रकार पश्चिम के आर्थिक और राजनीतिक आधार की बातो के सम्बन्ध में अपनी शिक्षा की वर्तमान मात्रा में हमें कोई भी कमी नही करनी चाहिए। अल्पतन्त्र का विकास अभिजात तन्त्र के रूप में किस प्रकार हुआ इसका अध्ययन महत्त्वपूर्ण है चाहे हम ग्रीस के नगरों के

सम्बन्ध में इस विकास को देखें या टैसिटस के बाद से जर्मनी के मैदानों की परिस्थिति में, या सम्पूर्ण सामन्ती यूरोप के विस्तार की पृष्ठभूमि में अथवा स्वयं अपने जमाने में जहाँ सामन्ती जागीरों का स्थान औद्योगिक घरानों ने प्राप्त कर लिया है। इससे भी विशिष्ट और सटीक यूरोपीय भावना वाला दृष्टान्त जनतन्त्र के विकास का है चाहे उसका स्वरूप ग्रीक हो, या पार्लमेन्टरी पद्धति वाला या सोशलिस्ट या कम्यूनिस्ट—ये सभी जनतन्त्र के भिन्न-भिन्न रूप हैं परन्तु हैं सभी एक-जैसे ही यूरोपीय। हाल की शताब्दियों में 'राष्ट्र-राज्यो' के विकास की प्रक्रिया भी नितान्त यूरोपीय, या कम-से-कम पश्चिमी ही है और इसी से उत्पन्न उपनिवेशवाद तथा गोरे साम्राज्यों का अस्तित्व भी पूर्णतया यूरोपीय ही है। शिक्षा के क्षेत्र में इसका महत्त्व चाहे जो भी हो परन्तु युद्ध की परम्परा का विकास भी 'फेलेनेक्स' (मेसीडोनिया की पैदल सेना) से लेकर सामन्ती सैनिक भर्ती और तीरन्दाजों और अन्त में उसके सर्वविनाशकारी स्वरूप तक यूरोपीय विशिष्टता है। इन सब बातों की शिक्षा हम इस समय दे ही रहे हैं और यूरोप के सच्चे स्वरूप को समझने के लिए इनकी शिक्षा का वास्तविक महत्त्व है।

परन्तु जिस प्रकार हमने अब तक अपने से भिन्न भूखण्डो की उपेक्षा की है उसी प्रकार हमने इतिहास के अध्ययन में बहुत-से विषयों की भी उपेक्षा की है, उन्हें पढ़ाने की ओर हमारा ध्यान ही कभी नहीं गया है। हम राजनीति और उसके निकटवर्ती सामाजिक विषयों में ही इतने व्यस्त रहे है कि यूरोप के विकास में योगदान देने वाली अन्य महत्त्वपूर्ण बातों को पढ़ाने की ओर हमारे शिक्षको का ध्यान ही नही गया है। मुख्यतया इसलिए कि ऐसे विषयों की इतिहासकारो ने छानबीन ही नही की है। अब हाल में ही हमारे प्रमुख इतिहासकारों ने इन विषयो की ओर अधिक ध्यान देने का अनुरोध करना प्रारम्भ किया है। यूरोप के समस्त सामाजिक विधानो में से शायद सबसे विशिष्ट है केवल एक ही विवाहित पत्नी का होना और इसी की आनुसंगिक परम्परा है एक पीढ़ी वाला परिवार। यूरोप और यूरोप से प्रभावित प्रदेशो को छोड़ कर संसार में प्रायः और हर कही कोई भी पुरुष एक से अधिक पत्नियों से विवाह कर सकता है। फलतः मानव समाज में यूरोपीय पारिवारिक संगठन अपने ढंग का निराला ही है। इसका विकास कैसे और किस प्रकार हुआ ? न तो इतिहासकार ही इसके सम्बन्ध में

कुछ बतलाते हैं और न शिक्षक ही इस विषय पर कुछ पढ़ाते हैं। सामान्य यूरोपियन नगर और सामान्य यूरोपियन गाँव भी एक विशेष ढंग के ही होते हैं और यह विशेषता नगरों तथा गाँवों की और बड़ी इकाइयो के रूप में भी फैली है जैसे 'काउन्टी', 'डिपार्टमेन्ट', 'लाडर' आदि। इसके सम्बन्ध में भी हमें पहले यह जानकारी प्राप्त करनी है और बाद में उसकी शिक्षा भी देनी है कि यह विशेष स्थिति क्यों और कैसे व्याप्त हुई। इससे एकदम भिन्न क्षेत्र है यूरोपीय लेखन और साहित्य की अपनी अनोखी विशिष्टताओ का। हमारी वर्णमाला कहाँ से आयी और हमारी लिखावट का प्रसार बाये से दाहिनी ओर क्यो होता है? उपन्यास का विकास केवल हमारे ही साहित्य में क्यों हुआ और वे कौन-से कारण है जिनसे हमारे इस उपन्यास साहित्य का मुख्य विषय उस प्रकार का स्त्री और पुरुष के बीच का यौन-प्रेम ही रहा जैसा कि संसार के यूरोपीय क्षेत्रो में ही पाया जाता है। हमारी कविता इतने अधिक समय तक तुक के बन्धनो से क्यों बँधी रही और उसने अनुप्रास की एग्लो-सैक्सन पद्धति या धर्मगीतो में विभिन्न पदो को समान स्वरूप देने की हीब्रू पद्धति क्यो नही अपनायी? क्या कारण है कि अतुकान्त कविता केवल यही सफल रही और संसार के अन्य सभी भागो में असफल। यह ऐसे केवल कुछ ही विषय हैं जिनकी यूरोप के इतिहास शिक्षकों ने निरन्तर उपेक्षा की है। यदि यूरोपीय लोगो को यह जानकारी प्राप्त करनी है कि यूरोप क्या है और वह किस प्रकार विकसित हुआ है तो इन सब बातों की कुछ-न-कुछ विवेचना होना अत्यन्त आवश्यक है।

शायद इनमें सबसे उल्लेखनीय विषय है दर्शन के क्षेत्र में यूरोप की विचार-पद्धति और परम्परा। न्यायशास्त्र (लाजिक) का तो यूरोप जन्मदाता ही है। इसी प्रकार तर्क की अवयवी पद्धति (सिलोजिज्म) भी यूरोप की अपनी ही विशेषता है। हमारे चिन्तन में इस पद्धति का प्रवेश प्लेटो, अरिस्टाटिल, यूकलिड तथा मध्यकालीन विद्वानों ने कराया और रिनेसां काल के दार्शनिकों ने हमारा चिन्तन इसी पद्धति में ढाल दिया। पश्चिमी दार्शनिक—सर्वोच्च कोटि वाले नहीं किन्तु सामान्य कोटि वाले अधिकांश—लगातार मानव चिन्तन की समस्याओं का विवेचन कुछ इस ढंग से करते हैं जैसे शुद्ध और सही चिन्तन केवल अवयवी पद्धति (सिलोजिज्म) द्वारा ही सम्भव हो सकता है। किन्तु हमारे जीवन के सभी सामान्य कार्यकलाप जिस विचार-पद्धति द्वारा संचालित होते हैं वह अवयवी पद्धति से सर्वथा भिन्न

होती है । हम अपने भोजन, मित्र, आवास, जीवन सहचरी, रोजगार-धन्धे और प्राय: प्रत्येक कामकाज की बात के चुनाव के सम्बन्ध में तर्क की यह अवयवी पद्धति न अपना कर अन्तःप्रेरणा से ही काम लेते हैं । हमें पश्चिम वालों की चिन्तन-पद्धति में कमी और अपूर्णता क्या है इसे समझने के लिए हम पूर्वी संसार से अन्तःप्रेरणा के प्रयोग के सम्बन्ध में बहुत कुछ सीखना और अपने बच्चो को सिखाना होगा । यह बात विशेष रूप से चिन्तन के उस उन्नत क्षेत्र के सम्बन्ध में लागू होती है जिसे हम विज्ञान कहते हैं । हमने सावधानीपूर्वक और क्रमबद्ध चिन्तन की अपनी परिपाटी के सहारे व्यावहारिक ज्ञान का इतना विशाल भाण्डार बना लिया है जो मानव समाज के इतिहास में बेजोड़ है । विज्ञान (विशेषत: औद्योगिक विज्ञान) को हम यूरोप की मेधा-शक्ति की एक महत्तम और विशिष्ट सफलता कह सकते हैं और विज्ञान के इतिहास का अध्यापन यूरोप के प्रत्येक स्कूल में होना चाहिए । परन्तु यूरोप के बाहर विज्ञान के अन्य स्वरूपों का भी विकास हुआ है जो शायद अपेक्षाकृत कम शुद्ध और सही हो किन्तु वे सत्य के प्रतिपादन में कम सहायक नही रहे है । और हम पश्चिम वाले चाहे जो भी समझें परन्तु हिरोशिमा के निवासी हमारी इस मान्यता से कदापि सहमत न होगे कि यूरोपियनो के विज्ञान की अपेक्षा पूर्व का विज्ञान मानव के लिए कम कल्याणकारी रहा है ।

इसमें सन्देह नही कि पहली दृष्टि में, हमें इसमें से कुछ बातें स्कूलों की पढ़ाई से स्वल्प सम्बन्ध रखने वाली लगेंगी । परन्तु जीवन के लिए कम आवश्यक बातों की अपेक्षा अत्यन्त आवश्यक बातों के इतिहास की शिक्षा देने में बेतुकेपन की बात ही क्या है ? बच्चे अपने जीवन में राजनीति की अपेक्षा कविता के सम्पर्क में कहीं अधिक आते है । अत: यदि उन्हें कविता का चाव थोड़े कम राष्ट्रीय या यूरोपीय पूर्वाग्रह के साथ कराया जाय तो वे उसका मूल्याकन कुछ दूसरे ही प्रकार से कर सकेंगे । और उनका कविता सम्बन्धी यह नये प्रकार का मूल्यांकन उनके वयस्क जीवन में कोरे राजनीतिक इतिहास के ज्ञान की अपेक्षा कही अधिक उपयोगी होगा । महान् राजनीतिज्ञो के रेडियो भाषण उन्हें सुनाने की अपेक्षा महान् कवियों की रचनाओं के रेडियो प्रसारणों का प्रभाव उनके लिए कहीं अधिक कल्याणकारी होगा । मनुष्य की आत्मा के लिए राजनीति की अपेक्षा कविता का विषय अधिक व्यापक और विस्तीर्ण होता है और (जैसा कि हिस्टारिकल एसोसिएशन का

दावा है) यदि इतिहास के अध्यापन का उद्देश्य *quidquid agunt hominess* है तो हमारे इतिहास में इस समय की अपेक्षा राजनीति का कम और कविता का कहीं अधिक विवेचन किया जाना चाहिए ।

अन्य कलाओं के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है और आज के रेडियो युग में सबसे अधिक व्यापक प्रभाव वाली बन जाने के नाते संगीत कला के बारे में तो शायद सबसे अधिक सटीक बैठती है । आज का बच्चा यदि रेडियो पर राजनीति विषयक एक प्रसारण सुनता है तो वह संगीत के हजारों प्रसारण सुनता है और (अपने घर के वयस्क लोगों के समान) इन्हें वह अधिकाशतः बिना किसी विशेष विवेक के सुनता है । अतः आज का इतिहासकार, जब वह प्रत्येक मानव कार्य-कलाप को अपनी परिधि के अन्तर्गत मानता है, ऐसा बेतुका आचरण नही कर सकता जिसका अर्थ हमारे जीवन में कलाओ की अपेक्षा राजनीति को अधिक महत्त्व प्रदान करना हो । यह उसका असन्तुलन ही होगा यदि वह सोफोक्लीज की अपेक्षा निकियास के सम्बन्ध मे अधिक और माइके लागेलो की अपेक्षा सेवोनेरोला के बारे में अधिक तथा हागार्थ की अपेक्षा कर्टेरेट के विषय में अधिक विस्तार से बतलावे । यह भी उसका असन्तुलन ही होगा यदि वह, आज के प्रत्येक इतिहासकार के समान, यह लिखे कि उन्नीसवी शताब्दी का जीवन पियानो की अपेक्षा वोट देने की परम्परा से अधिक प्रभावित हुआ । निस्सन्देह, वोट देने की प्रणाली विशिष्टतया यूरोपीय है परन्तु हमारे पियानो बजाने की लय सन्तुलित खूँटियो या यूरोपीय सगीत के अन्य बंधनों से युक्त संगीत से अधिक यूरोपीय विशिष्टता वाला इस वोट प्रणाली को कदापि नही कहा जा सकता । सगीत के इतिहास का अध्यापन सगीत पाठ्यक्रम के अन्तर्गत ही होना चाहिए न कि इतिहास के पाठ्यक्रम के अन्तर्गत, परन्तु कम-से-कम स्कूलों में पढाये जाने वाले इतिहास में इस भाव की ध्वनि तो सुनने को न मिले कि राजनीतिज्ञों के कार्यकलापों ने कला और संगीत की अपेक्षा यूरोप को कम मात्रा में प्रभावित किया है ।

वस्तुत. ऐसे अनन्त कारण हैं जिनके आधार पर हमें इतिहास के प्रति अपने वर्तमान दृष्टिकोण और उसकी शिक्षा की प्रणाली को बीते युद्ध वाली तथा जमाने के अनुकूल न पड़ने वाली मानना ही होगा । यदि इनमें से थोड़े-से कारण भी पुष्ट और तर्कसंगत ठहरें तो यूरोप के स्कूलों में पढ़ाये जाने वाले तथा ज्ञान और शोध

संस्थानों द्वारा तैयार किये गये इतिहास ग्रन्थों के पूर्ण और आमूल संशोधन की माँग का औचित्य सिद्ध हो जाता है । आज हमें ऐसे इतिहासकार अपेक्षाकृत कम चाहिए जो अभिलेखागारों में इतिहास की बारीकियो के शोध में अपना माथा-पच्ची करें किन्तु दूसरी ओर ऐसे इतिहाससेवी हमें बहुत बड़ी सख्या में चाहिए जो सम्पूर्ण संसार और उसके निवासियो के समस्त कार्यकलापों तक अपने कर्तव्य-क्षेत्र का विस्तार मानने की योग्यता और तत्परता रखते हों । पिछले ५० वर्षों में यूरोप के प्रमुख इतिहासकारो को सीमित विषयों का गहनतम अध्ययन करने मे रुचि रही है और अपनी ज्ञान-दृष्टि का प्रसार व्यापक और विस्तीर्ण क्षेत्र में करने की ओर उनका ध्यान उतना नही गया है । जब तक वे अपनी इस वृत्ति में परिवर्तन नही करते तब तक यूरोप के स्कूलों मे विद्यार्थियो को इतिहास की वही पाठ्य सामग्री प्राप्त होती रहेगी जिसमें अपने महाद्वीप की विशिष्ट तथा महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ उपेक्षित बनी रहेगी ।

सौभाग्य से इतिहासकारो ने अपना रवैया बदलना प्रारम्भ कर दिया है । इतिहास के एक ख्यातनामा प्रोफेसर ने अपना यह मत प्रकट किया है कि अभिलेखागारो के सहारे इतिहास शोध की परम्परा की अब अति हो चुकी है । इस शताब्दी में एक व्यक्ति के अकेले प्रयत्नो से ही इतिहास का जो सबसे बड़ा ग्रन्थ तैयार हुआ है वह मौलिक शोधों पर नही अपितु अन्य पुस्तकों में प्रस्तुत सामग्री पर आधारित है । इस ग्रन्थ मे उन सभी सभ्यताओ का विवेचन है जो इस पृथ्वी के किसी भी कोने मे किसी भी काल मे प्रचलित रही होगी और इनमें से किसी भी सभ्यता को 'यूरोपीय' नही माना गया है । एक अन्य सामयिक इतिहासकार ने यूरोप की पिछली थाती को 'सूखे ठूँठो की झाड़ी' कहा है और उनका आग्रह है कि 'एक नये दृष्टिकोण से यूरोप के अतीत की एक ऐसी नयी झाँकी देखी जाय जिसमें विश्व-सभ्यता और विश्व-राजनीति के नये युग के मंच पर पुराना यूरोप खडा हुआ हो ।' इन शब्दो में ५० वर्ष पहले थियोडोर रूजवेल्ट की निम्न उक्ति ही प्रतिध्वनित हो रही है : 'अमेरिका की खोज के साथ ही भूमध्य सागर के युग का अन्त हो गया । इस समय अटलांटिक युग अपने विकास की चरम अवस्था पर है और शीघ्र ही उसके अपने साधन समाप्त हो जायेंगे । प्रशान्त युग का उदय अभी प्रारम्भ ही हुआ है और यह अवश्यम्भावी है कि यह युग सबसे महान् सिद्ध हो ।' यदि यह बात ठीक है तो

हमें अपने इतिहास के शिक्षण में दृढ़तापूर्वक परिवर्तन करके उसका विस्तार यूरोप की परिधि के बाहर तक करना होगा। जैसा हम ऊपर देख ही चुके हैं यूरोप के कोई बन्धन और परिधि है ही नही। आज के विश्वव्यापी युग में न तो भौगोलिक सीमाएँ रह गयी हैं और न सांस्कृतिक। यूरोप के पूर्व में न तो यूराल पर्वतों का कोई महत्त्व रह गया है और न यूराल नदी का। लेनिनग्राड की यहाँ तक कि लन्दन की भी—संस्कृति व्लाडीवोस्टक तक फैली हुई है। पश्चिम की दिशा में यूरोप की संस्कृति न्यूयार्क तक फैल गयी और काफी अर्से से होलीवुड से भी वह प्रतिध्वनित हो रही है। आधुनिक बच्चों को एक ऐसे ससार में जीवन-यापन के लिए शिक्षित और तैयार करना है (और इस काम में इतिहास के अध्यापन को भी अपना योगदान देना है) जिसमें विषुवत् रेखा के चतुर्दिक् तथा एक ध्रुव से दूसरे ध्रुव तक सर्वत्र एक ही फिल्म का प्रदर्शन होता है और एक-जैसे ही रेडियो कार्यक्रम हर कहीं सुने जाते हैं। देर में हो या सबेर हमें स्कूलो में इतिहास का पाठ्यक्रम वस्तुतः विश्व इतिहास की शिक्षा देने वाला बनाना होगा। विश्व के इतिहास मे यूरोप की एक निश्चित भूमिका रही है और इसलिए उस इतिहास के पाठ्यक्रम में यूरोप को अवश्य ही एक प्रमुख स्थान प्राप्त होगा। किन्तु वह जमाना अब लद गया जब स्कूलो या अन्य स्थानो में पढाये जाने वाले इतिहास को संसार की केवल चौथाई आबादी के ही विवरण दे कर उसे पूर्ण मान लेने का सन्तोष किया जा सकता था।

६

जब कभी युद्ध होते है तो जनता युद्ध से थक कर ऊब उठती है और उसका नाम मिटा देने के उपायो के सम्बन्ध में सोचने लगती है । यूरोप में सोलहवी शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक दीर्घकालीन युद्ध चलते रहे जिनके कारण स्थायी शान्ति की स्थापना के लिए कितने ही प्रस्ताव प्रस्तुत किये गये जैसे हेनरी चतुर्थ या सले का 'ग्रैण्ड डेसेइन', ग्रोटियस का, 'ला आफ वार एण्ड पीस' लाइबनीज का बनाया 'कोड आफ इन्टरनेशनल ला', पेन का 'एसे टुवर्ड्स दि इस्टैब्लिशमेन्ट आफ ऐन यूरोपियन डाइट' तथा शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय पंचायत विषयक सेन्ट-पीरी, रूसो, बेन्थम और थान्ट द्वारा प्रस्तुत विभिन्न योजनाएँ । इसके बाद उन्नीसवी शताब्दी में १८४३ से 'शान्ति सम्मेलनो' की बैठकें होती रही—इनमें से कुछ बैठकें विक्टर ह्यूगो की अध्यक्षता में हुईं जिनके युद्ध विरोधी प्रयत्न नेपोलियन लेपीटिट के विरुद्ध कठोर आलोचनात्मक प्रहारो तक ही नही सीमित रहे । १८४९ में ऐसे एक शान्ति सम्मेलन ने 'इन राजनीतिक दुराग्रहो तथा घृणा के परम्परागत कुविचारो, जिनके कारण ही बहुधा विनाशकारी युद्ध हुए है, को दूर करने के लिए. . युवकों को और अच्छी शिक्षा दिये जाने तथा अन्य व्यावहारिक उपायों के अपनाये जाने' का सुझाव दिया । १८६७ के सम्मेलन में तो 'दि यूनाइटेड स्टेट्स आफ यूरोप' नाम की एक पत्रिका का भी प्रकाशन होने का निश्चय किया गया । परन्तु यह अधिक समय तक नही चली और १८९३ में फिर से शिक्षा को ही शान्ति स्थापना का मुख्य साधन माना गया और यह माँग की गयी कि शिक्षा सहिताओं का इस प्रकार संशोधन कर दिया जाय कि झूठे और भ्रान्ति प्रचारक विवरणो को पाठ्य-पुस्तकों में कोई स्थान ही न मिल पावे ।

पाठ्य पुस्तको द्वारा खतरनाक बातों के फैलने के सम्बन्ध में यद्यपि यह अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर दी गयी सबसे पहली चेतावनी थी फिर भी काफी समय तक इस विचार के अनुरूप कार्य नहीं हो सका । यह प्रसन्नता की बात है कि इस सम्बन्ध

में सबसे पहला व्यावहारिक कदम एक अंग्रेज ने ही उठाया। इसी वर्ष (१८९३) में जी. पिट ने अपनी 'ए हिस्ट्री आफ इंग्लैण्ड विद दि वार्स लेफ्ट आउट' (युद्ध विवरण रहित इंग्लैण्ड का इतिहास) शीर्षक पुस्तक प्रकाशित करायी। इस पुस्तक का बहुत ही थोड़ा उपयोग हुआ और इसके लेखक को भी लोगों ने प्रायः भुला दिया है; परन्तु पाठ्य पुस्तकों के सशोधन की दिशा में यह नया मोड़ देने वाला प्रयास था और इसके बाद से ही इतिहास के कोरे विरुदावली वाले स्वरूप का अन्त इस देश में प्रारम्भ हुआ। विरुदावली पद्धति वाले इतिहास की परम्परा समाप्त होने में काफी समय लगा परन्तु १९१४–१८ वाले महायुद्ध ने इस परिपाटी को इतिहास को गम्भीर ढंग से पढ़ाने वाले सभी स्कूलों में अन्तिम रूप से समाप्त कर दिया।

यह महायुद्ध तो संसार से युद्ध का नाम मिटा देने के लिए हुआ था। इसकी समाप्ति के साथ ही इतिहास की पुस्तकों के सशोधन के लिए दो बड़े कदम उठाये गये। स्कैन्डिनेवियन देशों (नार्वे, स्वीडेन, डेनमार्क और फिनलैण्ड) में 'नार्डेन' संस्थाओ की स्थापना पहले से ही हो चुकी थी जिनका उद्देश्य अपने सांस्कृतिक कार्यकलाओ में सामंजस्य और सहयोग स्थापित करना था। प्रत्येक देश की अपनी पृथक् सस्था है जिनका एक मुख्य कार्य है एक-दूसरे के देश मे प्रचलित पाठ्य पुस्तकों की जाँच करना। यह काम १९२० मे ही प्रारम्भ हो चुका था और उसके दूसरे वर्ष ही एक व्यापक आधार पर पाठ्य पुस्तको में पूर्वाग्रह के प्रश्न के सभी पहलुओं पर विचार किया गया। जिन देशों ने महायुद्ध में भाग लिया था—इनकी संख्या ५३ थी—उन सभी देशों की इतिहास की पाठ्य पुस्तकों सम्बन्धी जाँच का काम 'कार्नेगी फाउन्डेशन फार इन्टरनेशनल पीस' (अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति विषयक कार्नेगी संस्थान) ने अपने हाथो में लिया। इसके परिणामस्वरूप १९२४ में दो बडी जिल्दों वाली रिपोर्ट प्रकाशित की गयी जिसमें कम या अधिक मात्रा में सभी देशों को राष्ट्रीय पूर्वाग्रह का दोषी पाया गया।

इससे राष्ट्रसंघ (लीग आफ नेशन्स) को बड़ा उपयोगी मसाला मिल गया। १९२६ में राष्ट्रसंघ की 'इन्टरनेशनल कमेटी फार इंटलेक्चुअल कोआपरेशन' (बौद्धिक सहयोग के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कमेटी) ने स्पेन के प्रतिनिधि कैसारेस के नेतृत्व में पाठ्य पुस्तक सुधार की दिशा में सर्वाधिक महान् कदम उठाया। उनका नाम 'कैसारेस' प्रस्तावों के रूप में (कम-से-कम अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा के इतिहास में)

अमर है। इनमें न केवल व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय आधार वाली पाठ्य पुस्तक संशोधन के सर्वप्रथम संगठन का प्रस्ताव ही प्रस्तुत किया गया अपितु उसे खड़ा भी कर दिया गया। यह संगठन अपनी कार्य-प्रणाली में अपूर्ण था और दूसरे महायुद्ध के पहले ही इसका काम ठप हो गया। परन्तु यह अपने प्रकार का पहला संगठन था और इसलिए उल्लेखनीय है। इसके अनुसार राष्ट्रसंघ के प्रत्येक सदस्य देश से कहा गया कि वह अपने यहाँ एक राष्ट्रीय कमेटी की स्थापना करे और विदेशी पाठ्य पुस्तकों के परीक्षण का काम उसके सुपुर्द किया जाय। इस जाँच में राष्ट्रीय पूर्वाग्रह जिस किसी भी पाठ्य पुस्तक में दिखाई दे उन दृष्टान्तों की ओर उस पुस्तक को प्रकाशित करने वाले देश का ध्यान दिलाया जाय।

यह योजना तो अच्छी थी किन्तु वह चलायी बहुत गलत ढंग से गयी। प्रत्येक देश की राष्ट्रीय कमेटियो में ख्यातिप्राप्त इतिहासज्ञ ही प्रायः रखे गये जिन्हें स्कूली पाठ्य पुस्तकों को पढ़ने की अपेक्षा (अपनी समझ से) अधिक महत्त्वपूर्ण कामों की ओर ध्यान देना था। इन लब्धप्रतिष्ठ इतिहासज्ञो को स्कूली पाठ्य पुस्तक या तो नीरस दिखाई पड़ी या मूर्खतापूर्ण—वे शायद यह भूल गये कि अपने स्कूली जीवन की इन नीरस और मूर्खतापूर्ण इतिहास पाठ्य पुस्तको को ही पढ़कर वे आज ख्यातिप्राप्त इतिहासज्ञ बने हैं। बहरहाल पुस्तको की नीरसता या मूर्खता के इस झमेले में विशिष्ट इतिहासज्ञों ने इन्हें पढ़ने का कष्ट ही नही उठाया और यदि कभी पढ़ लेने की कृपा की भी तो अन्य राष्ट्रो की कमेटियो का ध्यान उनके दोषों की ओर शायद ही कभी दिलाया। द्वितीय विश्व महायुद्ध प्रारम्भ होने के बहुत पहले ही कैसारेस पद्धति उपेक्षित होकर मर गयी। परन्तु उसकी यह मृत्यु बेकार नही गयी। जब द्वितीय विश्व महायुद्ध समाप्त हुआ तब युद्ध से थकी हुई नयी पीढ़ी के शिक्षा विधायकों को कैसारेस योजना वाले काम को हाथ में लेने की फिर चिन्ता हुई और पाठ्य पुस्तकों के सुधार का काम १९२० की अपेक्षा और अधिक तेजी से चालू हुआ।

दूसरे, १९४५ तक पाठ्य पुस्तको के सुधार को अग्रसर करने के लिए कैसारेस योजना के अतिरिक्त और भी नये आधार प्राप्त हुए। 'इन्टरनेशनल काग्रेस आफ हिस्टारिकल सायंसेज' ने ५५ देशो में इतिहास के अध्यापन (प्रारम्भिक, माध्यमिक और विश्वविद्यालयों के स्तर पर) पर १९३० में एक रिपोर्ट प्रकाशित

की जिसमें हानिकर राष्ट्रीय पूर्वाग्रहों के सम्बन्ध में बहुत अधिक सामग्री का समावेश किया गया था । इसके एक वर्ष बाद दक्षिण अमेरिका के गणतन्त्र राज्यों ने अपने यहाँ वैसा ही काम किया जैसा कि अमेरिका ने १९१६ में किया था—अर्थात् अपने यहाँ की पुस्तकों की छानबीन करके यह प्रतिज्ञा की कि भविष्य में 'उनकी पाठ्य-पुस्तको तथा पाठ्य क्रमों में ऐसा कोई भी उल्लेख या मन्तव्य नहीं प्रकट किया जायगा जिसमें दूसरे देश के प्रति विरोध की भावना ध्वनित होती हो ।' इस निश्चय की शब्दावली महत्त्वपूर्ण है । यद्यपि यह निश्चय विश्वविद्यालयों के अध्यापकों की ओर से हुआ था फिर भी वह निर्भीकतापूर्वक तथ्यो की भूलों तक ही अपने को सीमित न रख कर उससे और आगे भी कदम बढ़ाने को तत्पर था । दक्षिण अमेरिका के इन विश्वविद्यालयो ने उस बात को समझ लिया, जिसे यूरोप के विश्वविद्यालयों ने बहुत बाद में समझा, कि झगड़े की असली जड़ तथ्यो की भूल नही है क्योंकि यह गलती तो बडी आसानी से पकड़ी जा सकती है । वस्तुतः अनर्थ की जड़ तो शब्दो का वह हेर-फेर है जो तथ्य की दृष्टि से ठीक होते हुए भी एक विशेष मनोवृत्ति से प्रेरित निष्कर्ष प्रस्तुत करती है । सही या गलत तथ्य को हृदयगम कराने की अपेक्षा एक विशेष भावना का प्रभाव अपने विद्यार्थियों पर डालना अध्यापक या पाठ्य पुस्तक के लिए कही अधिक आसान काम है ।

यह सब अत्यन्त उत्साहवर्धक था । उचित प्रकार के जनमत का वातावरण तैयार हो रहा था और उसी वर्ष 'इन्टरनेशनल कमेटी फार इटलेक्चुअल कोआपरेशन' ने यह घोषणा भी कर दी कि 'राष्ट्रों के बीच पारस्परिक सद्भाव को बढ़ाने के लिए इसमें बाधक तत्त्वो को स्कूली पाठ्य पुस्तको में से हटाने और उनका सुधार करने के लिए एक विश्व आन्दोलन तैयार हो रहा है ।' इससे कुछ महीने पहले ही हेग में 'इन्टरनेशनल फेडरेशन आफ टीचर्स एसोसिएशन' की स्थापना हो चुकी थी, यद्यपि यह संगठन बेकार ही हुआ । परन्तु इसके दूसरे वर्ष ही दक्षिण अमेरिका ने एक बार फिर इस दिशा मे मार्गदर्शन किया और बड़े महत्त्व का काम किया । उसने पाठ्य पुस्तकों के अनिवार्य संशोधन की बात विभिन्न देशों के बीच होने वाली अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि के अन्तर्गत सम्मिलित कर ली । इस प्रकार की सन्धि सबसे पहले चार देशों—अर्जेन्टाइना, ब्राजिल, यूरूग्वे तथा मेक्सिको—की सरकारों के बीच हुई और १९३८ में दक्षिण अमेरिका के और सभी देश भी इसमें सम्मिलित

हुए। इसी बीच स्केन्डिनेविया के 'नार्डेन एसोसिएशन' ने अपनी योजना को स्थायी रूप दिया और इतिहास के शिक्षण के लिए एक स्थायी संयुक्त समिति स्थापित कर दी। इस कमेटी ने शीघ्र ही एक नया और महत्त्वपूर्ण दृष्टान्त प्रस्तुत करके न केवल अपने आपस में मुद्रित पुस्तकों की बल्कि प्रकाशित होने के पूर्व पाण्डुलिपियों की भी अदला-बदली की परम्परा चलायी।

इसी बीच (१९३५ में) एक और लम्बा कदम आगे बढ़ाया गया। उस समय तक फ्रांस पहले-जैसा ही फ्रांस बना हुआ था और सार पर उसका अधिकार था, दूसरी ओर जर्मनी भी पहले-जैसे अपने अपरिवर्तित रूप में और नाजी आधिपत्य में था। फिर भी उस वर्ष बर्लिन के इतिहास अध्यापको के सगठन के सुझाव पर फ्रांस और जर्मनी के इतिहासकार शिक्षा विषयक अपने मतभेदो की छानबीन करने के लिए एकत्र हुए। इसके परिणामस्वरूप एक विख्यात (उसे कुख्यात भी कह सकते हैं) मेमोरैण्डम दोनों पक्षों की सहमति से तैयार किया गया जिसमें दोनो देशो के ऐसे ऐतिहासिक सम्बन्धो का उल्लेख किया गया जो दोनो को मान्य हो सकते थे। यह फ्रांस और जर्मनी में इतिहास की पाठ्य पुस्तकों की रचना और उसकी पढ़ाई का बहुत ही अच्छा कार्यक्रम प्रस्तुत कर सकता था। परन्तु प्रारम्भ से ही शिक्षा-सम्बन्धी और राजनीतिक परिस्थितियों ने इस पर अपनी वक्र दृष्टि डाली। नाज़ी शासन ने इसे ठुकरा दिया और जिन जर्मन शिक्षकों ने इसे तैयार करने में सहयोग दिया था उन पर अपनी नाराज़ी प्रकट की। उससे तो यही व्यवहार अपेक्षित था। परन्तु नितान्त अनपेक्षित रूप में, इंग्लैण्ड में भी इस मेमोरेण्डम की बड़ी तीव्र भर्त्सना इस आधार पर की गयी कि यह मतभेदो की दरारों को कागज से जोड़कर एक करने-जैसा प्रयत्न है। यह सही भी था और ये दरारें और भी चौडी होती गयीं और अन्त में १९३९ में समूची इमारत ही ढह पड़ी। फिर भी कागज की चिप्पी लगाकर दरारों को जोड़ने के इस प्रयत्न से इतना तो सिद्ध ही होता है कि १९३० के आस-पास यूरोप के दो घोर विरोधी देशों के इतिहास अध्यापकों के बीच सद्भाव मौजूद था। सद्भाव का यह प्रमाण, दूसरे महायुद्ध की समाप्ति पर अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा के लिए बहुत सहायक सिद्ध हुआ।

१९३५ के फ्रेंच-जर्मन प्रस्तावों के प्रति इंग्लैण्ड के विश्वविद्यालयों का यह विरोध भाव अपने में सच्चा होते हुए भी निश्चय ही भ्रान्तिपूर्ण था। लगभग

इसी समय इंग्लैण्ड ने इतिहास की पुस्तकों में सुधार के एक और प्रयत्न में बाधा डाली। इस बार का उसका विरोध किसी भ्रान्ति के कारण नहीं अपितु एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त के प्रति अपनी आस्था के कारण था। इसी सिद्धान्त को अपनाये रहने के लिए ही इंग्लैण्ड का शिक्षा मन्त्रालय संसार में सबसे उदार और प्रबुद्ध माना गया है। राष्ट्रसंघ ने अपने समस्त सदस्य देशों से इस आशय की घोषणा पर हस्ताक्षर करने को कहा कि वे अपने यहाँ पाठ्य पुस्तक सुधार का कार्यक्रम चलायेंगे। इस घोषणा पर हस्ताक्षर करने को ३१ देश तो सहमत हो गये किन्तु ७ देशों ने ऐसा करने से इनकार किया। इन ७ में नाजी जर्मनी, अमेरिका और ब्रिटेन भी थे। अमेरिका ने इसका कारण यह बतलाया कि उनके यहाँ शिक्षा का विषय केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत न होकर केन्द्र से संघबद्ध ४८ भिन्न-भिन्न राज्यों के अधिकार क्षेत्र में है। ब्रिटेन का तर्क यह था कि उनके यहाँ अध्यापकों और पाठ्य-पुस्तकों के लेखकों को अपने काम के सम्बन्ध में जो पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है उसमें वह किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप कदापि न करेगा। अंग्रेज शिक्षक या पाठ्य पुस्तक का लेखक सरकार के किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप के बिना जो चाहे सो पढ़ावे और जो चाहे सो लिखे। इस क्षेत्र में हमारी स्वतन्त्रता की मात्रा संसार के किसी भी देश की अपेक्षा कहीं अधिक है। आज भी विदेशी लोग इस बात को शायद ही समझ पाते है और १९३० के लगभग तो उन्हें इस बात का विश्वास ही भला कैसे हो सकता था। उन्हें तो यही समझ पड़ा कि राष्ट्रसंघ के एक उदार प्रस्ताव को अस्वीकार करने में ब्रिटेन भी नाजी शासन के साथ मिल गया।

इसके बाद महायुद्ध प्रारम्भ हो गया और खुले रूप में अन्तर्राष्ट्रीयता की चर्चा ही स्थगित हो गयी। फिर भी इस अवधि में अन्तर्राष्ट्रीयतावादी चुप नहीं बैठे रहे। युद्धजनित परिस्थिति ने ही इंग्लैण्ड के इतिहास अध्यापकों के सामने अप्रत्याशित रूप से इसका अवसर उपस्थित कर दिया। ज्यों-ज्यों जर्मनी का अधिकार यूरोप के विभिन्न भागों में बढ़ता गया त्यों-त्यों जनसत्तावादी राजनीतिज्ञों, प्रशासकों तथा इतिहासकारों की बड़ी संख्या शरणार्थी रूप में ब्रिटेन आने लगी। युद्धकालीन लन्दन तो विशिष्ट विदेशियों का अड्डा ही बन गया जिनमें कितने ही शिक्षाशास्त्री भी थे। वहाँ के 'हिस्टारिकल एसोसिएशन' (इतिहास परिषद्) ने इस अवसर से लाभ उठाया। उस समय इस संस्था की अन्तर्राष्ट्रीय कमेटी के अध्यक्ष

थे इटन के सर हेनरी मार्टेन जो स्वयं बहुप्रचलित पाठ्य पुस्तकों के लेखक थे और उसके सेक्रेटरी थे ए.सी. एफ. बील्स जिन्होंने अन्य पुस्तको के अतिरिक्त 'ए हिस्ट्री आफ पीस' नामक पुस्तक लिखी है। युद्ध की समाप्ति पर मार्टेन के स्थान पर संस्था के अध्यक्ष जी. टी. हैनकिन हुए। इन तीनों के नेतृत्व में हिस्टारिकल एसोसिएशन ने ब्रिटेन में बसे हुए विशिष्ट विदेशी राजनीतिज्ञो तथा शिक्षाशास्त्रियो की बैठकें तथा विचार-विमर्श कराये जिसके परिणामस्वरूप प्रस्तुत पाठ्य पुस्तक संशोधन योजना एसोसिएशन ने स्वीकार की। युद्ध की समाप्ति तक यह योजना फाइलो में ही बन्द पड़ी रही। इसके बाद यह सयुक्त राष्ट्र सगठन को भेज दी गयी जो उस समय बहुत-से कामो में व्यस्त था और वहाँ भी यह योजना फाइलों में बन्द पड़ी रही। इसके बाद इसे एकदम भुला दिया गया। फिर एक अप्रत्याशित सूत्र से पुनर्जीवित होकर इसने युद्ध के बाद के शिक्षा सम्बन्धी पुनर्जागरण में अपनी महत्त्वपूर्ण उपयोगिता दिखलायी।

युद्ध के समय मे विदेशो में भी इस क्षेत्र में काम होता रहा। १९१६ की भाँति इस बार भी ज्यो ही अमेरिका को युद्धमच पर आना पड़ा त्यों ही पाठ्य पुस्तकों में पूर्वाग्रह के प्रश्न को सुलझाने में रुचि पैदा हुई। १९४२ में 'अमेरिकन काउंसिल आफ एजूकेशन' ने सम्पूर्ण लैटिन अमेरिका में उपलब्ध शिक्षा सामग्री का अध्ययन व्यापक आधार पर प्रारम्भ कराया। ८०० पाठ्य पुस्तकों, ७५ फिल्मो तथा अपेक्षाकृत कम खतरनाक चीजो जैसे चित्रो और गीतो की भी जाँच करायी गयी। फिर १९४४ में अमेरिका और कनाडा के इतिहास अध्यापकों का एक संयुक्त सम्मेलन अपनी पारस्परिक कठिनाइयो को सुलझाने के लिए हुआ। तीन वर्ष के परिश्रम के बाद उन्होने एक महत्त्वपूर्ण रिपोर्ट 'स्टडी आफ नेशनल हिस्ट्री टेक्स्ट-बुक्स यूज्ड इन दि स्कूल्स आफ कनाडा एण्ड दि यूनाइटेड स्टेट्स' नाम से प्रस्तुत की जिसमें अमेरिकी पद्धति के अनुसार तथ्यों तथा वर्गीकृत आँकड़ों की भरमार है।

उस समय तक जर्मनी और जापान का पतन हो चुका था और उन पर मित्र-राष्ट्रों का अधिकार हो गया था जो कि जनतन्त्र विरोधी हर एक बात को मिटाने के लिए कटिबद्ध थे। अन्य चीजों के साथ ही इतिहास की वे सभी नाजी पाठ्य-पुस्तकें भी नष्ट कर दी गयीं जिन्होंने हिटलर और उसकी परिपाटी के निर्माण में इतना अधिक योगदान दिया था। परन्तु समस्या यह थी कि पूर्वी और पश्चिमी

जर्मनी नाम के दो नये राज्यों में इतिहास की पढ़ाई के समय इतिहास अध्यापक आखिर क्या पढावें ? मित्र राष्ट्रों द्वारा जर्मनी भेजे गये शिक्षा विशेषज्ञों ने इतिहास अध्यापन सामग्री की खोज के लिए यूरोप भर में दौड़-धूप की । जर्मनी की शिक्षा सामग्री के अभाव की पूर्ति के लिए चारों ओर से ब्लैकबोर्ड, चार्ट, दीवाल पर टाँगने वाले मानचित्र, तस्वीरें, फिल्म आदि पहुँचाये गये । ऐसी कोई भी सामग्री जिसके सहारे जर्मनी के अध्यापक नाजी भावनारहित इतिहास की शिक्षा दे सकें । दो वर्षों तक तो जर्मनी के इतिहास शिक्षकों की स्थिति बड़ी ही दयनीय रही । उसे मित्रराष्ट्रो के शिक्षा अधिकारियो के मातहत काम करना पड़ता था जिनके निश्चित आदेश थे कि उसका शिक्षा देने का ढंग जनसत्तात्मक होना चाहिए । इस आदेश का अर्थ स्पष्ट नही था—बर्लिन और बान में इसका अर्थ भिन्न-भिन्न ढंग से लगाया जाता था । दूसरी ओर वह अपने हेड मास्टरो और इंसपेक्टरों का भी मातहत था जिनका आग्रह था कि वह पढ़ाई का काम योग्यतापूर्वक करने के साथ ही जर्मन भावना की भी उपेक्षा न होने दे । और उसके नीचे उसके विद्यार्थी थे जो अपने अध्यापक के इस धर्मसंकट से उत्पन्न किसी भी अवसर या परिस्थिति से लाभ उठाने से निश्चय ही नही चूकते थे ।

और तब पाठ्य सामग्री के इस अभाव के बीच पूर्व की ओर एक छोटी-सी किरण दिखाई दी जिसका सुखद प्रभाव थोड़े-से ही समय में प्रत्यक्ष हो गया । हुआ यह कि मित्र राष्ट्रों के अधिकारियो ने सबसे महत्त्वपूर्ण पाठ्य सामग्री अर्थात् शिक्षक की ओर अब तक ध्यान ही नहीं दिया था । एक अंग्रेज शिक्षाशास्त्री ने एक बार कहा था कि पढ़ाने के लिए तीन वस्तुओं की आवश्यकता है—विद्यार्थी, पुस्तक और पीटने के लिए छड़ी । जर्मनी के इतिहास अध्यापकों के पास विद्यार्थियों और उन्हें पीटने के लिए छड़ी की तो कोई कमी थी ही नहीं, शीघ्र ही उन्हें कुछ पुस्तकें भी प्राप्त हो गयीं जिनकी संख्या क्रमश. बढ़ती गयी । ये पुस्तकें न केवल मित्रराष्ट्रों के शिक्षा-निरीक्षकों ने बल्कि स्वयं जर्मन लोगों ने प्रस्तुत कर दीं जो मित्रराष्ट्रों के प्रशासकों—उनमें से कितने ही भगवान् जानें कहाँ से आये हुए थे—की अपेक्षा जर्मन शिक्षा के मर्म को कहीं अधिक भली प्रकार समझते थे । इन प्रशासकों को उनके देश की सरकारों ने बतला दिया था—जिस प्रकार जर्मनी को बड़ी संख्या में इंग्लैण्ड से भेजे गये अंग्रेज शिक्षकों से कह दिया गया था कि वे जर्मन

युवकों को अच्छे अंग्रेज बना देने का प्रयत्न करें—कि जर्मनी में योग्य शिक्षक बचे ही नहीं हैं, क्योंकि नाजियो ने जर्मन शिक्षको को समाप्त कर दिया था और मित्र राष्ट्रों ने नाजी शिक्षकों को और इस प्रकार के दुहरे प्रहार के बाद केवल अयोग्य शिक्षक ही वहाँ बाकी बचे थे। परन्तु मित्र राष्ट्रों की यह धारणा सही नही थी। वास्तव में जर्मनी के स्कूलों में काफी संख्या में योग्य शिक्षक मौजूद थे—वही स्त्री और पुरुष जो पहले से ही वहाँ पढ़ाते आये थे। इसमें सन्देह नहीं कि इनमें से अधिकाश ने नाजी आतंक के सामने अपने घुटने टेक दिये थे उसी प्रकार जैसे कि इसके पहले के समय में वीमर आतंक के समय मे हुआ था। अब नाजी पतन के बाद यही शिक्षक अपनी नौकरी से हाथ धोने और इस प्रकार अपने परिवारों को भूखे मरते देखने की अपेक्षा ब्रिटिश, अमेरिकन या रूसी सत्ता के सामने घुटने टेकने को तैयार थे। इन शिक्षको ने यद्यपि नाजियों का विरोध नही किया था फिर भी वे हृदय से नाजी मान्यताओं के भक्त नही थे, उसी प्रकार जैसे कि इससे पहले के समय के जर्मन शिक्षक वीमर सत्ता का विरोध न करते हुए भी हृदय से 'डेमाक्रेट' नही थे। इस समय वे मित्रराष्ट्रों की सत्ता को प्रसन्न रखते हुए भी हृदय से सच्चे जर्मन ही थे और इसलिए उन्होने स्वयं अपनी पाठ्य पुस्तकें तैयार करके इस समस्या को सुलझा लिया।

पाठ्य पुस्तकों को तैयार करने की इनकी कहानी पाठ्य पुस्तक सुधार के इतिहास में बेजोड़ और अत्यन्त रोचक है। उस समय जर्मनी में प्रत्येक वस्तु का अभाव था—केवल पुस्तकों का ही नही अपितु कागज और जिल्दबन्दी की सामग्री का भी अभाव था। फिर भी इतिहास और उसकी शिक्षा पद्धति विषयक कितनी ही पुस्तिकाएँ ब्रन्सविक में छपने लगी। एक स्थानीय पत्रिका से ब्लॉटिंग पेपर जैसा रद्दी कागज भीख माँगकर उस पर ये पुस्तिकाएँ छापी गयी और जिल्द बाँधने के बदले इसके पन्ने एक साथ नत्थी कर दिये गये। ये पुस्तिकाएँ स्कूली बच्चो के लिए नही बल्कि शिक्षको और ट्रेनिंग कालेज के शिक्षार्थियों के लिए लिखी गयी जिनके द्वारा यह बतलाने का प्रयत्न किया गया कि नये प्रकार का इतिहास कैसे पढ़ाया जाय। इन्हें 'कान्ट्रिब्यूशन्स टु हिस्ट्री टीचिंग' नाम दिया गया और खुरदुरे रद्दी कागज पर छपी होने के कारण इन्हें पढ़ने में आँखों को बहुत कष्ट होता था। फिर भी पहले इनका प्रचलन ब्रन्सविक के ट्रेनिंग कालेज में हुआ और फिर

जर्मनी भर के विद्यार्थियो और शिक्षको में इनका प्रचार बढ़ता गया । इन्हें जर्मन शिक्षको ने लिखा था और जर्मनी के मित्र राष्ट्र नियन्त्रण कमीशन की पाठ्य पुस्तक शाखा ने इन पर अपनी स्वीकृति की छाप लगायी थी । अत: जर्मन शिक्षकों को इस प्रकार ऐसी इतिहास पुस्तकें प्राप्त हो गयीं जिन्हें वे इस बात के पूरे भरोसे के साथ पढ़ा सकते थे कि वे उच्च अधिकारियों द्वारा स्वीकृत हैं । ब्रिटिश शिक्षक इस बात का अनुमान भी नही लगा सकते कि जर्मन शिक्षकों को उच्च अधिकारियों की बिना स्वीकृति वाला इतिहास पढाने का कितना कटु अनुभव हो चुका था । ऐसा करने में उन्हें अपनी जान से हाथ धोने की नौबत भले ही न आयी हो किन्तु अपनी रोजी से तो हाथ धोना ही पड़ा था । परन्तु अब निरापद पाठ्य-सामग्री हाथ में आ जाने पर जर्मन शिक्षको ने पढ़ाना प्रारम्भ किया । उन्होंने अपना कार्य विजयी राष्ट्रो—जिन्हें यह पता ही नही था कि शिक्षकों का काम क्या है—द्वारा उपलब्ध किये गये विविध पाठ्य-साधनो की सहायता लिये बिना ही किया ।

यह सब काम ब्रन्सविक में प्रारम्भ होने का कारण यह था कि वहाँ 'ब्रन्सविक ग्रुप' नाम की जर्मनो की एक संस्था थी (इसमे व्यवसायी, विभिन्न पेशों के लोग तथा शिक्षक भी थे) जिसके सदस्य सदैव ही नाजीवाद के विरोधी रहे और जो अब इस बात के लिए उत्सुक थे कि जर्मन विचारधारा को अधिक जनसत्तात्मक तथा अन्तर्राष्ट्रीय दिशा में मोड़ा जाय । पाठ्य पुस्तक सुधार के क्षेत्र में इस टोली के मुख्य व्यक्ति थे ब्रन्सविक ट्रेनिंग कालेज के इतिहास के प्रोफेसर, जार्ज एकार्ट । यह उन्हीं की सूझ थी कि नयी पुस्तिकाएँ अखबार के रद्दी कागज पर छापी जायें । 'कन्ट्रीब्यूशन्स टु हिस्ट्री टीचिंग' पुस्तिका माला की पहली पुस्तक इन्ही की लिखी थी (यह उल्लेखनीय है कि इस पुस्तिका का विषय १५२० का किसानों का विद्रोह था) और फिर इन्ही ने सम्पूर्ण पुस्तिकामाला का सम्पादन भी किया । यह अनोखी सूझ और असीमित क्षमता के व्यक्ति हैं और पश्चिमी जनसत्तात्मक देशों के स्तर तक जर्मन शिक्षा को भी उन्नत बना देने के सम्बन्ध में नये-नये उपायों का प्रयोग करते रहे हैं । १९४९ में इन्हें इस बात का पता चला कि इंग्लैण्ड के 'हिस्टारिकल एसोसिएशन' ने पाठ्य पुस्तक सुधार की एक योजना युद्ध-काल में तैयार की थी जो फाइलों में बन्द पड़ी हुई है । यह उस समय अपनी ही जैसी अथक क्षमता के एक अन्य सज्जन टी. जे. लेओनार्ड के साथ काम कर रहे थे । लेओनार्ड

उस समय ब्रिटिश कन्ट्रोल कमीशन की पाठ्य पुस्तक शाखा में थे और उनकी यह दृढ़ मान्यता थी कि राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जीवन पर पाठ्य पुस्तको का बहुत ही जबर्दस्त असर पड़ता है। वे कहा करते थे कि यदि सरकारों के विदेश विभाग विभिन्न विदेशों में प्रचलित इतिहास की पाठ्य पुस्तकें पढ़ लेने का कष्ट उठा लिया करें तो उन्हें उन देशों के लोकमत की गतिविधि की रिपोर्ट अपने एजेण्टो से प्राप्त करने पर व्यय करने की आवश्यकता ही न रहे। अतः जब इन दोनों सज्जनो को पाठ्य पुस्तक सुधार सम्बन्धी 'हिस्टारिकल एसोसिएशन' की योजना का पता चला तो उसे वे अग्रसर करने पर कटिबद्ध हो गये। दूसरे ही वर्ष 'हिस्टा-रिकल एसोसिएशन' ने ब्रन्सविक ग्रुप के सहयोग में काम करने के लिए ब्रिटिश इतिहास शिक्षकों की एक टोली का चुनाव किया और विदेश विभाग ने उसे ब्रन्स-विक भेज भी दिया। इसके परिणामस्वरूप कुछ ही महीनो के भीतर इंग्लैण्ड और जर्मनी के बीच पाठ्य पुस्तको की अदला-बदली का काम प्रारम्भ हुआ और तब से लगातार जारी है। पहले यह काम 'हिस्टारिकल एसोसिएशन' के तत्त्वावधान मे चला और जब 'हिस्टारिकल एसोसिएशन' से कुछ खटपट हो गयी तो अस्थायी रूप से इस काम को शिक्षको की एक निजी टोली ने चलाया। १९५४ से १९६४ तक यह काम यूनेस्को की ब्रिटिश नेशनल कमीशन की कार्य परिधि के अन्तर्गत हुआ।

जर्मनी और इंग्लैण्ड के बीच पाठ्य पुस्तकों की अदला-बदली से प्रोफेसर एकार्ट ने एक लम्बी छलांग लगायी। आगे के कुछ ही वर्षों में उन्होने इसी प्रकार की अदला-बदली की पद्धति पश्चिमी यूरोप के प्रायः प्रत्येक देश तथा अमेरिका और एशिया के भी कुछ देशो और जर्मनी के बीच प्रारम्भ कर दी। उन्होने १९५१ मे 'ब्रन्सविक इन्टरनेशनल स्कूल बुक इन्स्टीटयूट' की स्थापना की जिसका उद्देश्य है अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर पाठ्य पुस्तकों के सुधार के लिए आवश्यक शोध अभिलेखों का संग्रह करना। इसी प्रकार की एक संस्था की स्थापना दिल्ली में १९५५ में भारत सरकार की पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत हुई। स्वतन्त्र होने के बाद वाले भारत को योजनाओं का देश कहा गया है और दिल्ली का 'टेक्स्ट बुक रिसर्च इन्स्टीटयूट' इसका एक श्रेष्ठ उदाहरण है। इसने अपनी स्थापना के एक या दो वर्ष के भीतर ही १०० से अधिक भारतीय पाठ्य पुस्तको के संशोधन का काम प्रारम्भ किया तथा पाठ्य पुस्तकों की श्रेष्ठता का आँकड़ों के आधार पर मूल्यांकन

के काम में किसी भी अन्य देश से, यहाँ तक कि अमेरिका से भी—अधिक प्रगति की है।[1]

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के पहले ही भारत अपने स्कूलों और कालेजों में अंग्रेजी की पाठ्य पुस्तकों की आयी हुई बाढ़ में परिवर्तन लाने के लिए अधीर था (दिल्ली के इन्स्टीटयूट की स्थापना-जैसे कार्य यूनेस्को के उस महान् कार्यक्रम की शुरुआत ही है जिनके द्वारा वह पूर्व और पश्चिम के बीच पारस्परिक सद्भाव और एक दूसरे को ठीक तरह से समझने की दिशा में प्रयत्नशील है। यह दसवर्षीय योजना है और इसके परिणामों का पूरा लाभ अभी कम-से-कम दस वर्ष तक नहीं प्राप्त हो सकेगा। परन्तु इससे यह सिद्ध है कि पूर्व और पश्चिम के एक ही जैसे विचारों वाले शिक्षक एक दूसरे के सम्पर्क में आ चुके हैं और संसार के दो महान् खण्डों के बीच पाठ्य पुस्तको के आदान-प्रदान के काम की योजनाएँ स्वेच्छापूर्वक 'संचालित होने की दिशा में हौसला बढ़ा है। पश्चिम और पूर्व की विभाजन रेखा सबसे पहले जर्मनी ने पार की और ब्रन्सविक इन्स्टीटयूट ने अपनी स्थापना के पहले वर्ष के भीतर ही भारत और जापान (पोलैण्ड और यूगोस्लाविया भी) के साथ पाठ्य पुस्तक आदान-प्रदान का काम किया। भारत और ब्रिटेन के पारस्परिक प्राचीन सम्बन्धो के नाते इन दोनों देशों के शिक्षक भी एक-दूसरे के निकट आये हैं जिससे पाठ्य पुस्तको तथा शिक्षकों के विचारों का आदान-प्रदान दिल्ली इन्स्टीटयूट तथा लन्दन में यूनेस्को के नेशनल कमीशन के बीच स्थापित हो चुका है।

पाठ्य पुस्तक सुधार-जैसे काम के लिए यूनेस्को-जैसी संस्था अत्यन्त उपयुक्त है। अतः युद्ध की समाप्ति होते ही यह संस्था इस क्षेत्र में काम करने वालों की अग्रणी कोटि में आ गयी। जहाँ पराजित राष्ट्रो में ऐसे इतिहास के प्रसार का काम होता रहा जो वस्तुतः मित्रराष्ट्रों का प्रचार था तथा यूनेस्को ने कई देशों के अध्यापकों के सम्मेलन लगातार बुलाये। यूनेस्को द्वारा आयोजित इन सम्मेलनो में स्पष्ट और खरे रूप में विचारों की अभिव्यक्ति तथा एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझने

१. १९५१ में ऐसी ही एक संस्था का प्रारम्भ ओसाका विश्वविद्यालयमें हुआ है।

का काम इतनी अच्छी तरह से हुआ जैसा कि किसी भी परम उदार देश के विदेश मन्त्रालय या शिक्षा मन्त्रालय द्वारा आयोजित सम्मेलनों में भी होना सम्भव नहीं था। इस प्रकार यूनेस्को ने अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा के सम्बन्ध में बहुत साहित्य संसार के कोने-कोने में पहुँचा दिया है और ऐसे साहित्य का काफी बड़ा अंश रद्दी की टोकरियो में न पहुँचकर दफ्तरो, अध्ययन कक्षो और पुस्तकालयो में उपयोगी सिद्ध हुआ है। ये सब लम्बी अवधि में पूरे होने वाले काम है और कभी-कभी तो प्रगति अत्यन्त मन्द दिखाई पडती है फिर भी लोकमत धीरे-धीरे सजग हो रहा है और उसे पता चल रहा है कि इतिहास की पुस्तको के संशोधन के सम्बन्ध में क्या काम हो रहा है। यही इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि 'टाइम्स' और 'गार्जियन' जैसे अखबारो ने इस विषय पर अग्रलेख लिखे है। पाठ्य पुस्तक सशोधन के काम में सफलता मिलने लगी है और इसीलिए यूनेस्को-जैसे अन्य स्वतः प्रेरित अन्तर्राष्ट्रीय सगठन 'फ्रेटरनिटे मोन्डिएल' और 'ब्यूरो डे ल' 'एन फ्रास डेला ज्यूने से' नाम से स्थापित हुए है। अपेक्षाकृत कम अन्तर्राष्ट्रीय तथा कम मात्रा मे स्वतः प्रेरित 'काउंसिल आफ यूरोप' भी इसी प्रकार का काम कर रहा है।

कम-से-कम स्कूलों के अध्यापको से इस काम के प्रति अपने कर्तव्य-पालन का योगदान देने में कोई कठिनाई नही हुई है। दोनो महायुद्धो के बीच के समय मे किसी ने कहा था कि इग्लैण्ड मे अध्यापन का पेशा 'अन्तर्राष्ट्रीयता का गोरखधन्धा बना हुआ है' और यही बात शायद बहुत-से अन्य विदेशो के अध्यापको के सम्बन्ध में भी सही थी। आज, कम-से-कम पाठ्य पुस्तक सुधार के क्षेत्र में, यह बात ब्रिटेन की अपेक्षा विदेशो के सम्बन्ध मे अधिक लागू होती है। ब्रिटिश अध्यापक बहुत आसानी से यह मानने को तैयार है कि चूँकि उनके यहाँ के पाठ्यपुस्तको के लेखक विविध प्रकार के सरकारी हस्तक्षेप से मुक्त है इसलिए ब्रिटेन की पाठ्य पुस्तके सबसे अधिक राष्ट्रीय पूर्वाग्रह रहित हैं। खेद है कि यह बात सही नही है। परन्तु इसका असर यह हुआ है कि अन्तर्राष्ट्रीय निष्ठा पूरी तरह रखते हुए भी बहुत से ब्रिटिश अध्यापक अन्तर्राष्ट्रीय पाठ्य पुस्तक सुधार के काम से अपना हाथ खीचे हुए हैं। इस क्षेत्र में विदेशी लोग अग्रणी हो रहे है। युद्ध की समाप्ति के बाद से इस आन्दोलन के संचालन का काम सौभाग्य से विभिन्न देशों के कुछ थोड़े-से ऐसे लोगों की टोली के हाथों में रहा है जो न केवल ख्याति प्राप्त अध्यापक रहे हैं

बल्कि अनुभवी प्रशासक भी । ऐसे अग्रणी लोगों में एक हैं हॉकोन विगान्डर जो ओस्लो के फ्रागनर स्कूल के रेक्टर हैं । विभिन्न नार्डन देशों के संगठनो के बीच पाठ्य पुस्तको की अदला-बदली के काम में इनका बहुत समय से हाथ रहा है । इन्ही ने सबसे पहले इस बात का ध्यान दिलाया था कि पाठ्य पुस्तकों में पूर्वाग्रह दोष इस कारण आ जाता है कि सभी मनुष्यो की मानसिक गठन के भीतर कुछ ऐसी मान्यताएँ और धारणाएँ छिपी पडी रहती हैं जिनकी कोई निश्चित परिभाषा या विवरण नही दिया जा सकता । यह बात विशिष्ट इतिहासकारों तथा स्कूलों के अध्यापकों के सम्बन्ध में भी सही है । इस कार्य मे प्रारम्भिक उत्साह दिखाये जाने का एक परिणाम यह हुआ है कि १९४५ के बाद से पाठ्य पुस्तक सुधार आन्दोलन का काम स्कूलो के अध्यापको के हाथो मे रहा है—विश्वविद्यालयों के विशिष्ट इतिहासज्ञो के हाथों मे नही जैसा कि दोनो महायुद्धो के बीच की अवधि में था । अत इस बार पाठ्य पुस्तको की उपेक्षा नही हुई है और उन्हें पढ़ने तथा उनमें सशोधन का काम सच्चाई और ईमानदारी के साथ किया गया है । विगान्डर ने इस काम मे नेतृत्व किया और तबसे वे इस सम्पूर्ण आन्दोलन के अत्यन्त सक्रिय और आदरणीय कार्यकर्ताओ मे से रहे हैं । प्रारम्भ से ही इस काम में उनका साथ देने वाले रहे हैं ब्रन्सविक के प्रोफेसर एकार्ट, पेरिस के लीसी कन्डार्सेट के इतिहास अध्यापक तथा 'सोसाइ डे प्रोफेस्यूर्स ड' हिस्टायर एट डे जियोग्रेफे' के अध्यक्ष प्रोफेसर ब्रूली और बेल्जियम के शिक्षा मन्त्रालय के इतिहास के इन्सपेक्टर एन्ड्रे पुरेमैन्स । इन सभी को शिक्षा के अन्तर्राष्ट्रीय पहलुओ का दीर्घकालीन अनुभव है जिसका मुक्त लाभ इस आन्दोलन को प्राप्त हुआ है । साथ ही इन सभी ने पाठ्य पुस्तक सशोधन पर महत्त्वपूर्ण पुस्तकें भी लिखी हैं ।

१९४५ के बाद से इस आन्दोलन को यूरोप भर के कितने ही विश्वविद्यालयो के इतिहास विशेषज्ञो का सहानुभूतिपूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है । दोनों महायुद्धों के बीच में तो विश्वविद्यालयो के इतिहास विशेषज्ञों ने इस काम में विशेष रुचि नही दिखायी थी और इसीलिए कैसारेस योजना सफल नही हो पायी । इस बार बहुत-सा प्रारम्भिक परिश्रम वाला काम तो स्कूलों के शिक्षकों ने पूरा कर दिया और साथ ही बहुत-से विश्वविद्यालय स्तर के अध्यापकों ने भी इसमें रुचि दिखलायी । उनका भी समर्थन प्राप्त हो जाने से इस बात का भी भरोसा हो गया कि तथ्यों

की बारीकियों की छानबीन का काम भी उपेक्षित नहीं रहा है। स्कूलों के अध्यापक इतिहास के किसी विशेष काल अथवा अंग के विशेषज्ञ तो नहीं होते हैं। उन्हें तो अपने विषय मे एक व्यापक रुचि होती है और इसलिए यह खतरा बना रहता है कि उच्चकोटि की पढाई की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में कही तथ्यों की निर्लिप्त छानबीन उपेक्षित तो नही रह जाती। अत. विश्वविद्यालयो के इतिहास विशेषज्ञो के, इनमें से कितने ही बड़े अनुभवी है, सहयोग से यह आशंका दूर हो गयी है कि स्कूली अध्यापको ने अपने शिक्षण उत्साह में आकर ऐतिहासिक विवेक की उपेक्षा तो नही कर दी है।

× × ×

और अब सुनिए कि यह सब किया कैसे जाता है? इतिहास की पुस्तको से पूर्वाग्रह की बातें हटायी कैसे जाती है और इस काम में किस हद तक सफलता मिल रही है? काम करने की अपेक्षा बातें बनाना तो कही अधिक आसान है। सम्मेलनों के आयोजनो की तो कोई कमी ही नही है—विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के सम्मेलन जिनमें बहुधा बाते तो बहुत गरमागरम होती हैं किन्तु नतीजा कुछ भी नही निकलता। दोनों महायुद्धों के बीच की अवधि में पाठ्य पुस्तक सुधार के सम्बन्ध में यही हुआ जब कि कैसारेस की व्यावहारिक आदर्शवादिता का कुछ परिणाम मिलने की आशा बँधी और बहुत-से प्रभावशाली व्यक्ति उसके प्रति आकर्षित भी हुए किन्तु यह रही प्रायः पूरी तरह से असफल। १९४५ के बाद से काम का ढग एकदम भिन्न रहा है। इस बार भी बहुत-से सम्मेलन आयोजित हुए और उनमें भाषण भी जोरदार हुए। किन्तु इस बार काम भी बहुत हुआ। सैकड़ो (शायद हजारो) इतिहास पुस्तको की जाँच की गयी और उनकी आलोचनाएँ हुईं, बहुधा इन सम्मेलनो की बैठकों के समय ही। परन्तु बहुत-से सम्मेलनों ने अपनी सक्रिय टोलियाँ बना ली जिनकी बैठको में मुख्य काम संपादित हुआ तथा बाद में पूरे सम्मेलन ने अपनी बैठक करके इन टोलियों के निर्णय को अपनी स्वीकृति (या अस्वीकृति) दी। अतः इन सम्मेलनो का काम केवल सुझाव देने तक ही सीमित नहीं रहा जिन पर वास्तविक कार्रवाई बाद में सम्पादित होने की नौबत आती। इसके प्रतिकूल इन सम्मेलनों में रिपोर्टों को अन्तिम रूप दे दिया गया जिससे वे संबद्ध शिक्षा अधिकारियों, लेखकों, प्रकाशकों या अन्य उद्दिष्ट सूत्रो को तत्काल भेजी जा

सकती थीं। 'कांउसिल आफ यूरोप' द्वारा बुलाये गये छः सम्मेलनों तक तथा कुछ अन्य सम्मेलनों में भी यही कार्य-पद्धति अपनायी गयी।

राष्ट्रसंघ द्वारा पहले चलाया गया यही काम असफल क्यों रहा और इस बार इसमें सफलता क्यो मिली इसका एक कारण तो यही है कि यूनेस्को ने कैसारेस योजना के एक गम्भीर दोष से अपने को दूर रखा। कैसारेस योजना में एक पकी-पकायी और हर प्रकार से बँधी तथा निश्चित स्कीम संसार के इतिहास शिक्षकों के सामने एक ऊपरी आदेश के रूप में आयी थी और इस बार यूनेस्को ने शिक्षको पर ही यह जिम्मेदारी छोड दी कि वे उस दिशा में स्वयं अपने ही प्रयोग करें। महायुद्ध के बाद ही ब्रूसेल्स और सावरेस में हुए सम्मेलनों में इस आवश्यकता का प्रतिपादन तो कर दिया गया कि पाठ्य पुस्तको में सुधार होना ही चाहिए, किन्तु ज्यों ही उसने देखा कि जर्मन,फ्रेंच, बेल्जियन, अंग्रेज तथा अमेरिका के विविध राज्यों में प्रतिनिधियों ने एक-दूसरे की पुस्तको के निरीक्षण का काम शुरू कर दिया है त्यों ही उसने इस काम में उन्हे पूरी छूट देकर अपने को मंच से हटाकर नेपथ्य में कर लिया। कैसारेस योजना व्यावहारिक तो थी किन्तु उसे चलाने के लिए लोग जुटाये ही नहीं जा सके। इस बार यूनेस्को ने अपनी ओर से कोई योजना या स्कीम तो अग्रसर ही नहीं की। इसके बदले उसने पाठ्य पुस्तकों के प्रचलित ढंग से असन्तुष्ट अध्यापको तथा लेखकों को एक साथ जुटा कर उन्हें अपनी रुचि के अनुसार पाठ्य-पुस्तकों में परिवर्तन करने की छूट दे दी। इस काम में भी भूलें हुई। लोग नाराज भी हो गये। इनमें सभी प्रकार के लोग थे और उनकी नाराजी के कारण भी भिन्न-भिन्न थे उदाहरण के लिए अभिलेखागार विशेषज्ञ जो पहचानते हैं कि केवल वास्तविक तथ्यो से ही सत्य का निरूपण सम्भव है; इतिहास के मर्म को समझने वाले पेशेवर विशेषज्ञ जो इस विषय पर स्कूली इतिहास शिक्षकों के नौसिखिये मन्तव्यों को विश्वसनीय नही मानते; राष्ट्रीयतावादी जिनका मोटे रूप में यही सिद्धान्त है कि उनके देश की हर बात—चाहे वह गलत भी क्यो न हो—ठीक ही है; अन्तर्राष्ट्रीयतावादी या अन्य आदर्शों में निष्ठा रखने के नाते प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में इतिहास द्वारा किसी हित को अग्रसर करना चाहते हैं; वर्गभेदों में आस्था रखने वाले लोग जो संसार के सभी भागों में मौजूद हैं और अन्त में वे सब लोग जो यह मानते हैं कि किसी निश्चित और बँधी हुई योजना (जिसमें इधर-उधर भटकने

की कोई आशंका ही न हो) के बिना किसी काम को अग्रसर करना खतरनाक है। ऐसे सभी वर्गों को यह नितान्त अग्राह्य हुआ कि स्कूलों में पढ़ाये जाने वाले इतिहास के साथ खिलवाड़ करने की पूरी छूट स्कूलों के अध्यापकों को दे दी जाय। यह सभी वर्ग समझते थे कि स्कूली शिक्षक संशोधन के नाम पर पाठ्य क्रम में जो नये शिगूफे खड़े करेंगे उनकी अपेक्षा पहले से प्रचलित बातें ही कहीं अधिक ग्राह्य हैं।

परन्तु स्कूली शिक्षक प्रचलित चले आये दोषों से इतने अधिक ऊबे हुए थे कि वे उन्हें दूर करने को कटिबद्ध हो गये और इस बात की भी प्रतीक्षा किये बिना कि दोष निवारण की कौन-सी योजना अचूक हो सकती है अपने काम को अग्रसर कर दिया। अत' उन्होने एक दर्जन जर्मन पुस्तकें उठा ली या इसी प्रकार फ्रेंच, ब्रिटिश, बेल्जियमन या अमेरिकन पुस्तकें ले ली और प्रत्येक में ऐसे परिच्छेदो-अनुच्छेदो या धारणाओ और मन्तव्यो की ओर उँगली उठा-उठाकर बतलाना प्रारम्भ किया कि अन्तर्राष्ट्रीय भ्रान्ति या घृणा इनके कारण फैलती है। न इन्होंने किसी सधी-बँधी योजना का अनुगमन किया और न यह किसी सिद्धान्त प्रतिपादन के पचड़े मे पड़े। बस शिक्षको की टोलियो के सामने पुस्तकों के ढेर प्रस्तुत हो गये और प्रत्येक ने जिस पुस्तक को पढ़ा और जाँचा उसके दोषी अंश पर अपनी उँगली रखकर कह दिया कि अमुक-अमुक स्थल विकारपूर्ण हैं। इनमें से कुछ आलोचनाएँ सही थीं और कुछ गलत भी; कुछ प्रासगिक थी और कुछ अप्रासगिक। परन्तु जो भी हो पुस्तको के परीक्षण और परिमार्जन का काम तो हो ही रहा था और इतने से ही इस आन्दोलन को अग्रसर किये जाने के अनुकूल वातावरण तैयार हो गया।

फिर जब इस काम की गाडी निश्चित रूप से अपने मार्ग पर बढ़ने लगी तो यूनेस्को ने भी इसमे सहायता का हाथ लगाया। इस सहायता कार्य में न तो विभिन्न योजनाओं का संचालन सूत्र ही उसने हाथों में लिया और न उन्हें अपने कार्यक्रम का अग ही बनाया। यह यूनेस्को की विशुद्ध सहायता मात्र थी, जैसे सलाह देना, विभिन्न देशों के बीच सम्पर्क स्थापन में योगदान और यदि कही किसी काम के चलाने मे आर्थिक कठिनाई बाधक हुई तो खर्च का कुछ भार स्वयं उठा लेना। ब्रन्सविक के 'इन्टरनेशनल स्कूल बुक इंस्टीटघूट' का श्रेष्ठ रूप में सुसंगठित काम और दूसरी ओर सरकारी समर्थन से पूर्णतया रहित इंग्लैण्ड के शिक्षकों की अस्पष्ट रूप से संगठित टोली का काम और इन दोनों से भिन्न कोटि के विविध

कार्य-कलापों को अपने-अपने ढंग से कार्य-संचालन का प्रोत्साहन यूनेस्को से प्राप्त होता है, सभी अपने-अपने भिन्न ढंग से काम करते हुए एक सामान्य हित, यूनेस्को की सहायता से, अग्रसर करते हैं ।

इस काम को चलाने की पद्धति को हम विशिष्ट रूप से ब्रिटिश पद्धति कह सकते हैं—हाथ-पैर पटकते हुए किसी प्रकार प्रगति करना—और इसलिए यह और भी आश्चर्य की बात है कि इस काम में ब्रिटेन पिछड़ा हुआ है । परन्तु शायद अंग्रेजों को ऐसा लगता है कि विदेशियो का काम में जैसे-तैसे हाथ डालने से सब गुड़-गोबर हो जाता है । बहरहाल इस बार काम को अग्रसर करने में यही पद्धति अपनायी गयी । कई वर्षों तक इस प्रकार के अललटप प्रयोगो के बाद कार्य-पद्धति का एक निश्चित स्वरूप निर्धारित हो पाया और जो काम चल रहा है उसे तीन मोटी श्रेणियों में बाँटा जा सकता है । अब भी यह वर्गीकरण अस्थायी और कामचलाऊ ही है । फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि प्रत्येक स्कीम तीन में से किसी एक वर्ग की होती है—जैसे एकदेशीय, द्विदेशीय और बहुदेशीय । एकदेशीय रिपोर्टें एक ही देश के परिश्रम का परिणाम होती है जैसे अमेरिकन पाठ्य पुस्तको में एशिया सम्बन्धी विवरणो पर अमेरिका की रिपोर्ट या 'हिस्ट्री विदाउट बायस' नाम की अंग्रेजी की इतिहास पुस्तको पर 'इंगलिश काउंसिल आफ क्रिश्चियन्स एण्ड ज्यूज' की रिपोर्ट । स्केन्डिनेविया में पाँच नार्डेन वर्गों के सहयोग से हुए काम को बहुदेशीय श्रेणी के अन्तर्गत ही मानना होगा । परन्तु इस श्रेणी की सबसे व्यापक और विशाल योजना स्वय यूनेस्को द्वारा संचालित है और जिसका विषय है पूर्व और पश्चिम के पारस्परिक सम्बन्ध । इसके अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्र संगठन के प्रत्येक सदस्य देश से कहा गया है कि वह अपने ही देश की पुस्तकों के सम्बन्ध में रिपोर्ट प्रस्तुत करे । इन रिपोर्टों के संयोजन और एकरूपता का काम एक बहु-राष्ट्रीय कमेटी को सौंपा गया है और उनका प्रकाशन स्वयं यूनेस्को की ओर से किया जाता है ।

फिर भी अधिकाश स्कीमें द्विदेशीय ही हैं अर्थात् दो राष्ट्रों के बीच आलोचना के लिए पुस्तको की अदला-बदली । ब्रन्सविक इंस्टीटयूट भी इसी ढंग पर अपना काम चला रहा है जिसके अन्तर्गत संसार भर के भिन्न-भिन्न देशों के बीच द्विदेशीय आधार पर अलग-अलग स्कीमें चालू करना । १९५४ में ही कनाडा और अमेरिका

के बीच इसी द्विदेशीय आधार पर पुस्तको के परीक्षण का काम किया गया था और उस पर संयुक्त रिपोर्ट प्रकाशित हुई थी। लगभग इसी ढंग पर ही अन्य द्विदेशीय स्कीमें भी चालू हैं। इस सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से स्मरणीय है कि द्विदेशीय आधार पर किये गये सबसे प्रारम्भिक परीक्षण का काम ऐसे दो देशों के बीच हुआ था जो कम-से-कम सौ वर्षों तक एक दूसरे के कट्टर शत्रु थे—फ्रास और जर्मनी। सब तरह से प्रतिकूल परिस्थिति में भी यह योजना अत्यन्त सफल हुई। इसका श्रेय जर्मन और फ्रेंच लोगो की सहानुभूति और धैर्य की भावना तथा उनकी विद्वत्ता को है जिन्होने अपने-अपने देशो मे इस दिशा मे अगुआई की।

इनमें से कोई भी स्कीम ऐसी नही है जिसे कठिनाइयो और अवरोधो का सामना न करना पड़ा हो और ब्रिटेन में भी हमारे सामने इस सम्बन्ध में दिक्कतें पैदा हुईं। अन्य बहुत-से देशो के प्रतिकूल ब्रिटेन मे इतिहास के अध्यापको का कोई अपना सगठन है ही नही। अमेरिका की शिक्षा तथा सामाजिक अध्ययन की कौंसिलो मे इतिहास कमेटियाँ मौजूद हैं। इसी प्रकार 'सोसाइटे डे प्रोफेस्योर्स ड हिस्टायर ए डि ज्योग्रेफेई' तथा '................. ....'
की इतिहास शाखा भी चालू है। परन्तु इग्लैण्ड का 'हिस्टारिकल एसोसिएशन' अपने को शिक्षकों की सस्था मानने से इनकार करता है और वस्तुत. उसके आधे सदस्य शिक्षको से भिन्न पेशे के लोग है। ऐसा कोई सगठन है ही नही जो ब्रिटेन के इतिहास अध्यापको का प्रतिनिधि होने का दावा कर सके और बहुत समय तक अन्य देशो की सस्थाओ को इस बात की बड़ी उलझन थी कि वे ब्रिटेन मे इस सम्बन्ध में किससे सम्पर्क स्थापित करे। अन्त में इसका समाधान इस प्रकार हुआ कि यूनेस्को के ब्रिटेन स्थित नेशनल कमीशन ने ब्रिटेन की ओर से पाठ्य पुस्तक आदान-प्रदान की जिम्मेदारी उठा ली। किन्तु इस अव्यवस्था मे भी कुछ असुविधाएँ तो है ही। यह भी कहा जा सकता है कि ब्रिटिश शिक्षा मंत्रालय ने अपने एक आधारभूत सिद्धान्त का परित्याग कर दिया है क्योंकि यद्यपि पाठ्य पुस्तको की सामग्री से मन्त्रालय अपना कोई सरोकार नहीं मानता फिर भी नेशनल कमीशन का कार्य उससे संबद्ध तो है ही, भले ही यह सम्बन्ध कितना गैर-सरकारी क्यों न हो। परन्तु यह अपने ढंग का पहला दृष्टान्त नहीं है जब एक ब्रिटिश संस्था ने किसी समस्या का व्यावहारिक हल निकालने के लिए अपने सिद्धान्तों से नजर फेर ली है।

बहरहाल स्थिति यह है कि संसार भर में इतिहास की पाठ्य पुस्तकों की अदला-बदली मुक्त रूप से हो रही है और उनकी पारस्परिक आलोचनाएँ प्रतिपक्षों को पहुँच रही है । फिर भी अब तक जो कुछ हुआ है वह सब विचारों के आदान-प्रदान तक ही सीमित है । प्रश्न यह है कि वास्तविक काम किस हद तक पूरा हुआ है ? इन सम्मेलनों और आलोचनाओ के व्यावहारिक परिणाम क्या निकले हैं ? अब तक के कार्य के परिणामस्वरूप पाठ्य पुस्तकों और पढ़ाई के ढंग तथा विद्यार्थियों के विचारों में पहले से क्या अन्तर पड़ा है ?

इन प्रश्नो के उत्तर का सबसे सरल उपाय और शायद सबसे कम सन्तोषप्रद उपाय भी यही है कि नयी पाठ्य पुस्तकों में हुए परिवर्तनों की संख्या गिन ली जाय । यदि जर्मनी के 'गुटाबटेन' को इस बात की शिकायत रही है कि 'हिस्टोएर फ्रेंकेस' मे एलसेस में जर्मन भाषा के प्रयोग की मात्रा के सम्बन्ध में गलत तथ्य दिये गये हैं तो देखना यह है कि इस शिकायत के उठाये जाने के बाद के 'हिस्टोएर फ्रेंकेस' के संस्करणों में इस सम्बन्ध में क्या तब्दीली की गयी है ? क्या इसके बाद वाले सस्करणों में एलसेस में जर्मनभाषियों का सही अनुपात अंकित किया गया है ? इसी प्रकार यदि किसी अंग्रेजी इतिहास पुस्तक के सम्बन्ध में की गयी भारतीय आलोचना में यह आपत्ति उठायी गयी है कि उसमें भारतीय सिपाही विद्रोह के विवरण में केवल भारतीय अत्याचारों का ही उल्लेख किया गया है तो क्या अब इस पुस्तक के बाद के संस्करणो में से भारतीय अत्याचारों वाले उल्लेख हटा दिये गये है या उनके साथ ही अंग्रेजो के भी अत्याचारो के विवरण जोड़ दिये गये हैं ? इस प्रकार की कार्य-पद्धति पूर्व और पश्चिम के दोनों छोर वाले देशों, भारत और अमेरिका के बीच बहुत अपनायी गयी है और दोनों में ही आँकड़ों के प्रति आवश्यकता से अधिक आकर्षण प्रकट किया गया है । कुछ अमेरिकन रिपोर्टों में तो यहाँ तक कहा गया है कि विदेशी आलोचना के परिणामस्वरूप अमुक-अमुक पुस्तक में इतने शब्द, पंक्तियाँ अथवा पृष्ठ बदल दिये गये है और फिर इन परिवर्तनों का प्रतिशत वाला रूप भी उपस्थित किया गया है । इस प्रकार पाठ्य-पुस्तक सुधारो को गणित के पैमाने से नाप डाला गया है ।

काम का यह ढंग ब्रिटेन के अध्यापकों को रुचिकर नही होता । और जर्मनी या फ्रांस या इटली या बेल्जियम में भी पसन्द नहीं किया जाता । वस्तुतः पाठ्य

पुस्तक सुधार कार्य के सम्बन्ध में इस प्रकार की आँकड़ों वाली तालिकाओं के अपनाये जाने में आँकड़ो के आधार पर मूल्याकन प्रणाली के लाभ तो बहुत कम मात्रा में प्राप्त होते है किन्तु इसकी प्राय. सभी असुविधाएँ अवश्य उत्पन्न होती हैं। 'हिस्टोएर फ्रेंकेस' मे एलसास के जर्मनभाषी लोगो के अनुपात के आँकड़े भले ही अत्यन्त सही रूप में दे दिये जायें किन्तु उनसे यदि पुस्तक के पाठक के मन पर यह प्रभाव पड़े कि चूँकि एलसास में जर्मनभाषियों का बहुमत है इसलिए वह सांस्कृतिक दृष्टि से भी फ्रेंच की अपेक्षा जर्मन अधिक है, तो यह एकदम गलत ही होगा। किसी साख्यिकी अथवा गणित के अनुपात के आधार पर एलसास को फ्रेंच नही माना जाता बल्कि इसलिए कि पिछली कई शताब्दियों से फ्रेंच संस्कृति के अस्पष्ट और अदृष्ट तत्त्व एलसास के लोगो के जीवन में घुल-मिल चुके हैं। इसमें सन्देह नही कि तथ्यो की तोड़ मरोड का सम्मिलित और दीर्घकालीन प्रभाव बहुत ही हानिप्रद हो सकता है और इसलिए तथ्यों की गलती को दूर करना सर्वथा वाछनीय है। परन्तु पाठ्य पुस्तक सुधार की सफलता अथवा असफलता की नाप इस आधार पर नही की जा सकती कि वर्तमान पुस्तकों के तथ्यो की बारीकियों की भूलें कहाँ तक दूर कर दी गयी है। मुद्रित पुस्तको में संशोधन और परिवर्तन करना वैसा आसान काम नही है जैसा कि कुछ लोग समझते हैं। मुद्रित साहित्य ज्ञान-वृद्धि का महान् साधन भले ही हो परन्तु वह परिवर्तन की दिशा में एक भारी अवरोध भी होता है। पाठ्य पुस्तकों के अधिकाश लेखक अपनी पुस्तक इसी शुद्ध भाव से लिखते है कि उनसे पढाने में नये प्रकार की सहायता प्राप्त होगी। परन्तु उनके प्रकाशक पैसा कमाने के उद्देश्य से उन्हें छापते है। अतः यदि वे अपनी लागत लगाकर छपवायी गयी किसी पुस्तक के पृष्ठो में बारम्बार और बड़ी मात्रा के परिवर्तन किया जाना स्वीकार करें तो इससे उनके लाभ की मात्रा बहुत घट जाती है। कुछ प्रकाशक उदार होते है और वे यथासम्भव परिवर्तन पुस्तकों में करने को सहमत हो जाते हैं। परन्तु वे सब भी आखिर संसारी मनुष्य हैं और पाठ्य पुस्तकों के लेखको में थोड़े ही ऐसे होंगे जो अपेक्षाकृत कम आवश्यक परिवर्तन अपनी रचनाओं में करने के लिए प्रकाशकों के दरवाजे खटखटाते फिरें। कई देशों में कितनी ही पुस्तकों में सविस्तार परिवर्तनों के सुझाव किये गये हैं—कहीं-कही तो यह परिवर्तन बहुत व्यापक आधार पर हैं और ऐसे परिवर्तन सुझाने

वाली आलोचनाएँ लेखक अथवा प्रकाशक या दोनों को ही भेजी गयी हैं। परन्तु थोड़े से मुनाफे पर प्रकाशन व्यवसाय चलाने वाले प्रकाशकों से यह आशा करना बहुत ज्यादती की बात होगी कि जब कभी भी ऐसे परिवर्तनों के सुझाव वाली आलोचनाएँ उन्हें विदेशों से प्राप्त हों तो वे हर बार अपनी मुद्रित पुस्तक के पृष्ठ नष्ट करके उन्हें फिर से छापें। और समूचे पृष्ठो के पुनर्मुद्रण के बिना काम ही न चलेगा क्योंकि बहुधा शिकायत किसी विषय के विस्तार सम्बन्धी बात के बारे में नहीं अपितु विशेष अर्थव्यंजना वाली शब्दावली के सम्बन्ध में होती है जिसका प्रयोग कुछ पृष्ठों तक ही सीमित न होकर सम्पूर्ण पुस्तक में व्याप्त रहता है। अन्य बहुत-से देशों की अपेक्षा ब्रिटेन में इस प्रकार की असुविधा का सामना सबसे अधिक करना होता है। हमारे यहाँ यदि हमें किसी पाठ्य पुस्तक में परिवर्तन कराना हो तो हमें लेखक से अपना समय और प्रकाशक से अपना धन व्यय करने का अनुरोध करना पडेगा। इस सम्बन्ध में सबसे सौभाग्यशाली देश वे हैं जहाँ पाठ्य पुस्तकों का प्रकाशन सरकार की ओर से होता है और वह करदाता का धन इच्छानुसार व्यय करके जब और जितनी बार चाहे अपनी पाठ्य पुस्तकें बदल कर फिर से छाप डाले।

इन सब निश्चित अथवा अनिश्चित कारणो से पाठ्य पुस्तकों में संशोधन का काम वांछित मात्रा तक कभी भी पूरा नही किया जा सकता। पाठ्य पुस्तकों की आलोचनाओं के आदान-प्रदान की सफलता की कहीं अच्छी परख की कसौटी यह नहीं है कि उसके परिणामस्वरूप आलोच्य पुस्तक में किस हद तक परिवर्तन हुए। यह सफलता तो इस बात से आँकी जानी चाहिए कि आलोचना होने के बाद जो पुस्तकें प्रकाशित हुई है उनमें इस आलोचना से कहाँ तक लाभ उठाया गया है। वर्तमान पाठ्य पुस्तकों के सम्बन्ध में इतना अधिक अब तक कहा जा चुका है और अब भी लगातार कहा जा रहा है कि अध्यापकगण प्राय. सब कही उन पुस्तकों में मौजूद दोषों के प्रति सजग हो गये हैं। फलतः अब तक प्रचलित पुस्तकों का इस्तेमाल अध्यापक लोग बहुत सावधान होकर कर रहे हैं। इसी प्रकार नयी पुस्तकों के लेखक पहले की अपेक्षा ऐसे दोषों से अपनी पुस्तकों को मुक्त रखने की दिशा में सचेत हैं। यद्यपि इस काम की प्रगति धीमी है फिर भी पुरानी पुस्तकों की आलोचनाओं से लेखकगण लाभ उठाने लगे हैं और भविष्य में अधिकाधिक मात्रा में लाभ

उठायेंगे । वस्तुतः नयी पुस्तकें पहले की पुस्तकों से कही अच्छी है । अब इन नयी पुस्तकों की भी आलोचनाएँ हो रही हैं और इस प्रकार सुधार की यह प्रक्रिया उत्तरोत्तर प्रभावशाली हो रही है । अतः इसका पूरा असर पाठ्य पुस्तक लेखन की एक पीढ़ी या इससे भी अधिक समय व्यतीत होने पर ही दिखाई देगा । फिर, नार्डेन देशों की यह योजना कि प्रकाशन के पहले ही पुस्तक की पाण्डुलिपि आलोचना के लिए प्रस्तुत कर दी जाय बाहर के अन्य देशों में भी अपनायी जाने लगी है । कम-से-कम एक लेखक तो ऐसा भी है जिसने अपनी पुस्तक की पाण्डुलिपि के विभिन्न अश उन विदेशों को आलोचना के लिए भेजे है जिनके इतिहास का विवरण उन अंशो में दिया गया है ।

इन सभी बातों, तथा अन्य ऐसी बातों से भी जिनकी सामान्यतया जानकारी नहीं हो पाती, से प्रमाणित होता है कि ससार के विभिन्न भागों में लोकमत का अनुकूल वातावरण तैयार हो रहा है । और पाठ्य पुस्तको में इस समय मौजूद गलतियों का व्यापक आधार पर सशोधन किये जाने की अपेक्षा अनुकूल वातावरण तैयार होने का कही अधिक महत्त्व है । साधनों के चक्कर में पड़कर हमें उनके द्वारा प्राप्त होने वाले मूल लक्ष्य को नही भुला देना है । हमारा मूल ध्येय, जैसा बहुधा लोग समझ बैठते है, वर्तमान स्कूली पाठ्य पुस्तकों में व्याप्त भूलो का सशोधन कराना अथवा और अच्छी पाठ्य पुस्तकें प्रकाशित करा देना मात्र नही है । मूल ध्येय यह भी नही है कि स्कूलो या विश्वविद्यालयों में इतिहास के अध्यापन से पूर्वाग्रह का मूलोच्छेद हो जाय । इन सबका तो इतना ही उद्देश्य है कि स्कूलो में होने वाली पढ़ाई में सुधार हो और हमारा मूलभूत लक्ष्य स्कूली अवस्था के बच्चे न होकर उनका वह वयस्क रूप है जिसे यह स्कूली बच्चे भविष्य में प्राप्त करेंगे । किसी स्कूली पाठ्य पुस्तक में संशोधन कर के हम जो बीज बोते है उसका फल हमे एक पीढ़ी के बाद प्राप्त होता है । परन्तु ऐसे संशोधनो के पक्ष मे प्रचार कर के हम उसका फल तत्काल प्राप्त कर लेते हैं । स्कूली पुस्तको में से वर्ग भ्रान्तियों का दूर किया जाना तो बहुत महत्त्वपूर्ण है ही परन्तु वर्तमान समय में वैसा ही महत्त्वपूर्ण है सामान्य और व्यापक लोकमत को इन बातों पर सहमत करना कि स्कूली पुस्तकों में संशोधनों की बहुत आवश्यकता है, कि आज हर कहीं वर्गगत भ्रान्तियाँ व्याप्त हैं जो बहुत अंशो में अब तक प्रचलित स्कूली पुस्तकों द्वारा प्रसारित हुई हैं और अन्त

मे यह भी कि यदि इन्हे इस समय दूर न किया गया तो यह भविष्य की भी स्कूली पुस्तकों द्वारा प्रचारित होती रहेंगी। वयस्क लोकमत को इस परिवर्तन के पक्ष में तैयार कर लेने का काम पाठ्य पुस्तकों की आलोचना कर देने से उतना नहीं सिद्ध होता जितना कि इन आलोचनाओं के पक्ष में प्रचार कार्य करने से। जब अंग्रेजी की पुस्तकों में पूर्वाग्रह के विषय पर 'काउंसिल आफ क्रिश्चियन्स एण्ड ज्यूज' ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की तो 'टाइम्स' अखबार ने उस पर अपना अग्रलेख लिखा। यह मूल रिपोर्ट तो केवल हजारों शिक्षकों और शिक्षाशास्त्रियों ने ही पढ़ी होगी और उससे प्रभावित होकर वे अपने पढ़ाने के ढंग को भी थोड़ा बदलने को प्रेरित हुए होंगे। परन्तु दूसरी ओर रिपोर्ट पर लिखे गये 'टाइम्स' के अग्रलेख को तो उसके लाखों-करोड़ो पाठकों ने पढ़ा होगा और इस प्रकार पाठ्य पुस्तक संशोधन तथा वर्ग भ्रान्ति निवारण के पक्ष में एक ही दिन में इस एक अग्रलेख द्वारा उतना काम सम्भव हुआ होगा जितना कि किसी भी रिपोर्ट द्वारा पूरा होने में कई वर्षों का समय लग जाय।

परन्तु दैनिक अखबार का जीवन केवल चौबीस घण्टे का होता है और इसलिए उसका प्रभाव भी दीर्घकालीन नही रहता। अतएव 'टाइम्स' का अग्रलेख ससार के शिक्षित समाज को उसी एक दिन प्रभावित कर पाता है और इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षाविदों को प्रभावित करने के प्रयत्न बारम्बार दुहराये जायें। इस काम की सिद्धि के लिए हर कही शिक्षा-सम्बन्धी पत्रिकाओं में प्रायः नियमित रूप से लेख प्रकाशित कराये जा रहे हैं। ब्रिटेन में तो एक दर्जन से कुछ कम शिक्षा पत्रिकाओ ने पाठ्य पुस्तक सुधार के काम मे स्वयं रुचि ली है और अपने पाठकों को भी रुचि दिलायी है। परन्तु फ्रांस और बेल्जियम में, जहाँ जनसाधारण को भी 'बुद्धिवादी' बनने का चाव होता है, पाठ्य पुस्तक सुधार की चर्चा चोटी के समाचारों के रूप में होती है। अमेरिका में बहुत बड़ी संख्या में और विविध प्रकार के पत्र-पत्रिकाओं में इस विषय पर लेख छपे हैं। और जर्मनी में, जहाँ ब्रन्सविक इन्स्टीटयूट का महान् और संगठित समर्थन इस काम को प्राप्त है, पाठ्य पुस्तक सुधार सम्बन्धी समाचार और विचार इस संस्था की पुस्तिकाओं जिनमें प्रत्येक द्विदेशीय पुस्तक अदला-बदली सम्बन्धी विस्तार की बातें मौजूद रहती हैं (कभी कभी ये आकार में बड़ी पुस्तकों-जैसी होती हैं) तथा 'इयर बुक आफ हिस्ट्री

टीचिंग' नाम के वार्षिक प्रकाशन द्वारा तो संपादित होता ही है, इसके अतिरिक्त अर्ध-लोकप्रिय समाचार पत्रों में सचित्र और सादे लेख भी इस विषय पर प्रकाशित होते रहते हैं ।

यही इस आन्दोलन के प्रारम्भिक इतिहास का विवरण है । पाठ्य पुस्तकों की अदला-बदली के सन्तोषजनक उपाय खोज लिये गये हैं और उनके अनुसार व्यापक रूप से काम जारी है । जनमत तथा शिक्षा के पेशे में लगे लोगो में इस विषय के सम्बन्ध में रुचि पैदा कर दी गयी है । अब इस काम को ठोस रूप देने का समय आ गया है और अब हमारे सामने प्रश्न यह है कि काम का ठोस रूप कैसा हो। जहाँ तक ब्रिटेन का सम्बन्ध है हमें यह तय करना है कि क्या हम इस काम में अधिक दत्तचित्त होकर जुट जायें या हम पहले की भाँति आगे भी विलगाव की सतर्कता बरतते रहें जिसके कारण हम यूरोप के अधिकाश देशो तथा अमेरिका की तुलना में इस काम से अपेक्षाकृत अधिक खिचे हुए रहे है ?

सम्भवत· इस काम का भविष्य अन्य स्थानों में भी ब्रन्सविक, दिल्ली और *ओसाका में पहले से ही स्थापित सस्थाओं-जैसे संगठनों के हाथों में अधिक सुरक्षित* हो । उस दशा मे धन की आवश्यकता तो होगी ही और यह धन अधिकाशत: सार्वजनिक चन्दे से ही प्राप्त करना होगा, जैसा कि इन स्थापित सस्थाओ के लिए प्राप्त किया जा रहा है । परन्तु खर्चे के प्रश्न के अतिरिक्त एक मुख्य सवाल यह भी है कि कुछ देशो में (जिनमें से ब्रिटेन भी एक है) इस प्रकार की निश्चित और नियमों से बँधी हुई कोई भी योजना लोकप्रिय नही हो पाती । ब्रिटेन में इस सम्बन्ध मे विभिन्न उपाय प्रयोग में लाये जा चुके है—विदेश मन्त्रालय के तत्वावधान में जर्मनी से पुस्तको का आदान-प्रदान किया जा चुका है, 'हिस्टारिकल एसोसिएशन और यूनेस्को के ब्रिटेन स्थित नेशनल कमीशन के माध्यम से यह काम कराया जा चुका है, सरकारी सहायता लिए बिना शिक्षको की एक निजी टोली जर्मनी और डेनमार्क से पुस्तक आदान-प्रदान का काम कर चुकी है और एकदेशीय आधार पर हाली-स्टुवर्ट ट्रस्ट की आर्थिक सहायता से 'काउंसिल आफ क्रिश्चियन्स एण्ड ज्यूज़' ने अंग्रेजी की पुस्तकों के सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित करायी है। ये सभी उपाय भिन्न-भिन्न मात्रा में सफल भी हुए हैं और किसी नियमित संस्था के माध्यम से काम कराने की अपेक्षा ऊपर वर्णित ढंग से कार्य संचालन ब्रिटिश शिक्षकों

को अधिक अनुकूल लगेगा । परन्तु ब्रिटेन में तो पहले ही से कितने ही शिक्षा संस्थान मौजूद हैं, ब्रिटिश विश्वविद्यालयों के कितने ही विभाग हैं । यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि इन संस्थानों में काम करने वाले शिक्षकों में से कितने ही अपनी निजी हैसियत से इस काम में बहुत सहायक हुए हैं, फिर भी संस्था के रूप में इनमें से कोई भी हाथ बँटाने को आगे नहीं आयी है । ब्रिटेन में शिक्षकों के अपने संगठनों, जैसे एन.यू.टी.; 'दि एसोसिएशन आफ असिस्टेन्ट मास्टर्स एण्ड मिस्ट्रेसेज' आदि में से भी किसी ने नियमित और अधिकृत रूप में इस काम में अपना कोई सहयोग नहीं दिया है । दूसरी ओर अन्य देशों में 'दि फ्रेंच सोसाएटे डे प्रोफेस्योर्स ड हिस्टयर एट डी ज्योग्रेफी', 'दि फेडरेशन बेल्ज डे प्रोफेस्योर्स ड हिस्टोएर' , 'दि जर्मन यूनाइटेड टीचर्स एसोसिएशन', 'दि डेनिश यूनियन आफ हिस्ट्री टीचर्स' आदि सभी ने इस काम में प्रमुख रूप से भाग लिया है । १९५७ में तो (मुख्यतया बेल्जियम के प्रयत्नों से) 'इन्टरनेशनल फेडरेशन आफ हिस्ट्री टीचर्स', नाम की एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था भी स्थापित हुई जो सम्भवतः अन्तर-राष्ट्रीय शिक्षा के क्षेत्र में एक महान् स्तम्भ बन जाय । परन्तु प्रश्न यही है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय संस्था अपने लिए प्रतिनिधि भेजने के लिए ब्रिटेन में किस संस्था से लिखापढ़ी करे । अथवा क्या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर यह काम ऐसी स्वतन्त्र संस्थाओं के ही हाथों में बना रहने दिया जाय जैसे 'कार्नेगी फाउन्डेशन', 'फ्रेटरनिटी मान्डियेल' 'दि ब्यूरो डे ला ज्यूनेसी एट डे ल' एनफेंस' । ऐसी संस्थाएँ तो पहले ही से इस क्षेत्र के काम में बहुत रुचि ले रही है । ऐसी संस्थाएँ अपना काम चलाने के लिए धन की व्यवस्था भी आसानी से कर लेती हैं, परन्तु बहुधा इनके कार्यों में स्वार्थ-सिद्धि की भावना भी रहती है ।

इस प्रकार इस समस्या को सुलझाने के लिए तरह-तरह के उपाय हमारे सामने हैं और भिन्न-भिन्न देशों में वहाँ के राष्ट्रीय चिन्तन स्तर के अनुरूप विभिन्न प्रकार के उपायों का अपनाया जाना आवश्यक होगा । यदि संसार में यह काम यूनेस्को के संयोजन में ही चलाया जाय तो भी उसके द्वारा संयोजित स्कीमें विभिन्न देशों में एक-दूसरे से भिन्न स्वरूप वाली ही होंगी । कुछ देशों में, जैसे भारत और जर्मनी—ये दोनों ही देश पाठ्य पुस्तक संस्थान स्थापित कर चुके हैं—किसी संगठन के माध्यम से काम करना पसन्द किया जाता है; कुछ देश फ्रांस जैसे होंगे जहाँ

संस्था का संगठन शिथिल होते हुए भी काम सम्बन्धी चिन्तन दुरुस्त रहता है; कुछ अमेरिका जैसे जहाँ धनी व्यक्ति और सम्पन्न संस्थाएँ हर काम को बड़े ऊँचे आधार पर करना पसन्द करती हैं और कुछ ब्रिटेन जैसे जहाँ अकर्मण्यता की मस्ती व्याप्त रहने पर भी किसी न किसी प्रकार काम पूरा हो जाता है।

परन्तु काम के लिए उपाय चाहे जो भी अपनाये जायँ, कुछ खतरों से सतर्क रहना आवश्यक ही होगा। किन्तु ऐसे खतरों का हमें सामना करना चाहिए, वे हमारी अकर्मण्यता के औचित्य का बहाना नही हो सकते। अन्तर्राष्ट्रीयतावादियों में ऐसे लोगों की संख्या असाधारण रूप से अधिक होती है जिन्हें किसी न किसी बात की एक सनक-सी होती है। ऐसे सनकी लोगों को एक निश्चित और निर्धारित मार्ग पर ही चलना होगा। विदेशियो के प्रति उदार होने और उचित व्यवहार करने में अपने ही देश के प्रति अनुचित व्यवहार हो जाने का खतरा निश्चय ही रहता है। मतभेदो की दरारो पर ऊपर से कागज की चिप्पी चिपका देने वाले समझौते असफल हो सकते हैं क्योकि ऐसे प्रयत्नो से आधारभूत मतभेद मिटते नही हैं और वे कागज के ऊपरी पर्दे के भीतर छिप जाने से दिखाई भी नही पड़ते। दूसरी ओर मुक्त विचार-विनिमय हुए बिना किये गये समझौते सर्व-सम्मति की मुहर लगाने वाले और झूठी एकता के परिचायक होते हैं। आलोचको की आलोचनाएँ भी वैसी ही पूर्वाग्रहयुक्त हो सकती हैं जैसी कि लेखको की पुस्तकें; पुस्तकों के समान ही आलोचनाएँ भी पक्षपातपूर्ण हो सकती हैं। पाठ्य पुस्तक सुधार का काम भी बहुत-से अन्य प्रशंसनीय कार्यों के समान, अपने प्रचार और प्रतिष्ठा का साधन बनाया जा सकता है। ये सभी बाते सही हैं और इनसे सतर्क रहने की बड़ी आवश्यकता है। परन्तु इन्हें हम सड़को पर लगे चेतावनी के संकेतो जैसा ही महत्व दें और उन्हें मार्ग अवरोध मानने की भूल करके अपनी प्रगति ही न रोक दें। सड़क के किसी खतरनाक मोड़ पर गुजरने का उपाय वहीं पर रुक जाना नही बल्कि अधिक सावधानी के साथ आगे बढ़ना है।

फिर, खतरों के भय से यदि हम अपना आगे बढ़ना रोकना भी चाहें तो भी हम ऐसा नहीं कर सकते। पाठ्य पुस्तक सुधार आन्दोलन ने बड़ी गति प्राप्त कर ली है और अब इतिहास के अतिरिक्त अन्य विषयों की पुस्तकों के सम्बन्ध में भी यह फैल रहा है। पूर्व में अकेले जापान से ही यह आवाज नही उठ रही है कि यूरोप की

भूगोल विषय की सामान्य पुस्तक में पूर्वीय जीवन का सत्य से बहुत ही भिन्न और विकृत चित्र प्रस्तुत किया जा रहा है। पश्चिम में भी इससे शायद कुछ धीमे, किन्तु अखण्डित, स्वर में इसी प्रकार की शिकायत सुनाई पड़ रही है। फलतः पाठ्य-पुस्तक योजना के अन्तर्गत आलोचनाओं की अदला-बदली का जो काम अभी तक इतिहास पुस्तकों तक ही सीमित था उसका विस्तार अब भूगोल पुस्तकों के सम्बन्ध में भी हो गया है। और अब तो इधर भाषाओं तथा साहित्यों के बारे में भी पूर्वाग्रह सम्बन्धी आशंकाएँ प्रकट की जाने लगी हैं। भाषाओं के शिक्षक व्याकरण और शैली की बारीकियों के बारे में ही इतना व्यस्त रहते हैं कि पाठ्य पुस्तकों का चुनाव करने में उनका ध्यान पुस्तको में वर्णित विषय की ओर बहुत ही कम जाता है। जो पुस्तकें अपने साहित्यिक महत्त्व के लिए ही पढ़ी जाती हैं या जिनका अनुवाद उनके सरल होने के कारण किया जाता है उनके द्वारा पुस्तकों को पढ़ने वाले विद्यार्थियो के ग्रहणशील मन में विदेशी जीवन और संस्कृति के सम्बन्ध मे बड़ी ही विचित्र धारणाएँ बन जाती हैं। जैसा कि इससे पहले इतिहास की पुस्तकों के सम्बन्ध में हुआ है इन साहित्यिक पुस्तको के सुधार की दिशा में भी जर्मनी अग्रणी रहा है। 'जर्मन सोसाइटी फार फारेन पालिटिक्स' के शोध संस्थान ने 'डासबिल्ड वाम आसलैण्ड' अर्थात् स्कूलो की पढ़ाई द्वारा जर्मन बच्चों के मन पर विदेशी लोगो के सम्बन्ध में धारणाओं के निर्माण के प्रश्न का व्यापक अध्ययन अपने हाथो में लिया है। इसके अलावा जर्मन, फ्रेंच और इंग्लैण्ड के शिक्षकों तथा प्रकाशकों द्वारा सयुक्त रूप से भाषा के अध्यापन में पूर्वाग्रह के प्रश्न की भी जाँच-पडताल करायी जा रही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यदि इस काम को आगे बढ़ाने में खतरों की आशंका मौजूद है तो इस सम्बन्ध में जहाँ के तहाँ बने रहने में तो और भी अधिक खतरा है। इतिहास की पुस्तकें और इतिहास के अध्यापन में ही नहीं, बल्कि हर प्रकार की शिक्षा इस समय विभिन्न प्रकार के पूर्वाग्रहों से दूषित हो रही है। जब तक भ्रान्तियो और पक्षपात की भावना को न केवल इस समय नही मिटाया जाता बल्कि यह कार्य निरन्तर जारी नही रखा जाता तब तक यह दोष व्याप्त ही रहेगा। जब तक पाठ्य पुस्तकों का प्रचलन रहेगा तब तक पाठ्य पुस्तक सुधार का काम भी जारी रखना होगा। दोनो महायुद्धों के बीच की अवधि में यह काम उपेक्षित होकर

समाप्त हो गया। द्वितीय महायुद्ध के बाद से इस काम का प्रारम्भ अच्छे ढंग से हुआ है और अब इस बार यह काम उत्साह और साहस की कमी के कारण नहीं रुकना चाहिए। हम किसी अन्धकारपूर्ण और अज्ञात दिशा में कदम नहीं बढ़ा रहे हैं। इस काम में सम्भावित खतरों को हम अच्छी तरह जानते हैं परन्तु दूसरी ओर इससे अनिवार्यतः होने वाले लाभ से भी हम परिचित हैं। यह काम एक निश्चित दोष का परित्याग कर देने का है और खतरों के होते हुए भी एक श्रेष्ठ लक्ष्य की ओर आगे बढ़ने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होने का भी।